

मजदूर बिगुल

वाम गठबंधन की भारी जीत के बाद नेपाल किस ओर ? 5

अक्टूबर क्रान्ति की शतवार्षिकी पर विशेष खण्ड 15-19

गौरक्षा का गोरखधन्धा - फ्रासीवाद का असली चेहरा 13

गुजरात चुनाव और उसके बाद

फासीवाद से निजात पाने के आसान रास्तों का भ्रम छोड़ें और भरपूर ताकत के साथ असली लड़ाई की तैयारी में जुटें

‘मजदूर बिगुल’ का यह अंक प्रेस में जाने तक गुजरात और हिमाचल प्रदेश में चुनाव के नतीजे स्पष्ट हो चुके हैं। पिछले कुछ महीनों से सारी मोदी सरकार गुजरात का चुनाव जीतने के काम में लगा दी गयी थी। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की पूरी ताकत भी इसमें झोंक दी गयी थी। संघ परिवार के तमाम संगठन तो मीडिया की नजरों से दूर अपने जहरीले प्रचार में हमेशा की तरह लगे ही हुए थे, प्रधानमंत्री भी बढ़ते जनअसन्तोष को भाँपकर मन्दिर-मस्जिद, पाकिस्तान का राग अलापने और रोने-धोने जैसी नौटंकी करने पर उतर आये थे। महीनों चले चुनाव प्रचार के बाद हर तरह की तीन-तिकड़म करके भाजपा गुजरात में फिर जीत गयी है जो बहुत अप्रत्याशित

नहीं है। उधर हिमाचल प्रदेश में वीरभद्र सिंह की भ्रष्ट और निकम्मी सरकार की वापसी की उम्मीद तो शायद कांग्रेसियों को भी नहीं थी।

मगर गुजरात के चुनाव को लेकर जैसी उम्मीदें बाँधी जा रही थीं और अब नतीजे आने के बाद वामपंथी बौद्धिक दायरों में भी जैसी मायूसी छायी है और जिस तरह के विश्लेषण किये जा रहे हैं, उनसे यही पता चल रहा है कि हिन्दुत्ववादी फासीवाद के कहर और मोदी सरकार की निरंकुश नवउदारवादी नीतियों का मुकाबला करने के लिए उदारवादियों, सुधारवादियों और सामाजिक जनवादी किस्म के वामपंथियों की सारी उम्मीद भाजपा को संसदीय चुनावों में हराने पर ही टिकी है

सम्पादक मण्डल

और इसके लिए वे कांग्रेस और अन्य गैर-भाजपा संसदीय बुर्जुआ दलों की ओर हसरतों के साथ देख रहे हैं। ऐसे ही लोग इन चुनावी नतीजों के विश्लेषण से कुछ आशाजनक बातें ढूँढ़ने में भी लगे हुए हैं।

लेकिन एक बार फिर यह समझ लेना जरूरी है कि भाजपा फासीवादी गिरोह यानी संघ परिवार की सिर्फ चुनावी शाखा है। किसी चुनाव में हार जाने से संघ परिवार के तमाम संगठन अपना काम करना बन्द नहीं कर देते। उनकी विषैली राजनीति लगातार जारी रहती है। सत्ता प्रतिष्ठान से लेकर समाज की तमाम संस्थाओं में, सेना-पुलिस,

न्यायपालिका, नौकरशाही से लेकर शिक्षा-संस्कृति की संस्थाओं तक में उनकी घुसपैठ योजनाबद्ध ढंग से बढ़ती रहती है। 2004 और 2009 की चुनावी हारों के बाद और भी ज्यादा ताकत के साथ भाजपा की सत्ता में वापसी इसका उदाहरण है।

मोदी सरकार के पिछले साढ़े तीन साल जनता से झूठे वायदे और झूमेबाजियाँ करने और दूसरी तरफ कॉरपोरेट घरानों की और सरकारी लूट-खसोट को बढ़ाते जाने में ही बीते हैं। लूट और झूठ के इस नंगे नाच से ध्यान भटकाने और लोगों को आपस में बाँटने के लिए लगातार समाज में नफ़रत फैलायी गयी है और मुसलमानों, दलितों, स्त्रियों के विरुद्ध बर्बर हिंसक

अपराधों को बढ़ावा दिया गया है और बहुत-सी जगहों पर संगठित ढंग से अंजाम दिया गया है। मेहनतकशों और गरीबों पर महँगाई, बेरोजगारी, मजदूरी में कटौती और कदम-कदम पर सरकारी डाकेजनी की मार सबसे बुरी तरह पड़ी है। इन हालात के खिलाफ आम जन में व्यापक असन्तोष है और जगह-जगह यह गुस्सा विभिन्न रूपों में फूटता भी रहता है। लेकिन यह भी सही है कि इस खदबदाते असन्तोष को एक संगठित, जुझारू, व्यापक आन्दोलन की शकल नहीं दी जा सकी है। हर बर्बर हत्याकाण्ड के बाद विभिन्न शहरों में होने वाले शान्तिपूर्ण और शालीन विरोध प्रदर्शनों से फासिस्टों के हौसले ज़रा भी पस्त नहीं

(पेज 12 पर जारी)

शोषित-उत्पीड़ित मानवता को मुक्ति की राह दिखाने वाली महान अक्टूबर क्रान्ति की शतवार्षिकी पर

अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करणों की रचना के लिए सजेंगे फिर नये लश्कर! मचेगा रण महाभीषण!

यूँ तो दुनिया लगातार अविराम गति से बनती-बदलती रहती है, पर इसकी गति सदा एकसमान नहीं रहती। इतिहास के कुछ ऐसे गतिरोध भरे कालखण्ड होते हैं, जब चन्द दिनों के काम शताब्दियों में पूरे होते हैं और फिर ऐसे दौर आते हैं जब शताब्दियों के काम चन्द दिनों में पूरे कर लिये जाते हैं। महान अक्टूबर क्रान्ति (नये कैलेण्डर के अनुसार 7 नवम्बर) का काल एक ऐसा ही समय था जब सर्वहारा वर्ग की जुझारू क्रान्तिकारी पार्टी के मार्ग-निर्देशन में रूस के मेहनतकश उठ खड़े हुए थे और सदियों पुरानी जड़ता और निरंकुशता की बेड़ियों को तोड़ दिया था। बगावत शुरू करने का संकेत

देते हुए आधी रात को युद्धपोत अत्रोरा की तोपों ने जो गोले दागे, उनके धमाके मानो पूरी दुनिया में गूँज उठे और पूरी दुनिया में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक प्रचण्ड रणभेरी बन गये।

क्रान्ति के बाद रातोंरात भूमि-सम्बन्धी आज्ञापत्र जारी करके ज़मीन पर ज़मींदारों का मालिकाना बिना मुआवज़े के खत्म कर दिया गया और ज़मीन इस्तेमाल के लिए किसानों को दे दी गयी, किसानों को लगान से मुक्त कर दिया गया और तमाम खनिज संसाधन, जंगल और जलाशय जनता की सम्पत्ति हो गये। सभी बड़े कारखाने राज्य की सम्पत्ति बन गये और तमाम विदेशी कर्ज़

ज़ब्त कर लिये गये।

फ़रवरी 1917 में ज़ारशाही निरंकुशता के ध्वस्त होने के बाद बुर्जुआ वर्ग का जो गँठजोड़ सत्ता में आया था, उसने कल्पना भी नहीं की होगी कि सर्वहारा इतनी चमत्कारी पहलकदमी दिखायेगा। उसे लेनिन के हाथों गढ़ी गयी शक्तिशाली और युयुत्सु पार्टी की ताकत और तैयारी का अनुमान भी नहीं था। स्वयं पार्टी में भी कुछ लोग इस साहसिक क्रम के लिए तैयार नहीं थे और किसी-न-किसी बहाने इसे टालने की दलीलें दे रहे थे। लेकिन बोलशेविक पार्टी और मजदूर वर्ग ने लेनिन के इस आह्वान पर अमल किया कि क्रान्ति

अभी इसी वक़्त, और अभी नहीं तो फिर कभी नहीं!

प्रतिक्रियावादी ताकतों और क्रान्तिविरोधी गद्दारों की तमाम कोशिशों को कुचलते हुए बोलशेविकों ने सत्ता पर कब्ज़ा कर लिया और रूस के विशाल प्रदेशों में क्रान्ति की विजययात्रा सुनिश्चित करने के लिए अपनी पूरी ताकत झोंक दी। लेकिन पूँजी की ताकतें इतनी जल्दी कहाँ हार मानने वाली थीं। मजदूरों के राज को तहस-नहस करने के लिए जनरल देनिकिन, कोल्चाक और पेटल्यूरा को फ़ौज-फाटे से लैस करके भेजा गया। इधर-उधर बिखर गये श्वेत गाड़ों के दस्ते और क्रान्ति-विरोधियों

के विभिन्न गुटों ने जगह-जगह लड़ाई और मार-काट मचा रखी थी। इसी बीच अठारह देशों की सेनाओं ने एक साथ रूस पर हमला बोल दिया। खूनी गृहयुद्ध का सिलसिला तीन साल तक तो प्रचण्ड रूप में चलता रहा, लेकिन उसके बाद भी काफ़ी समय तक जगह-जगह क्रान्तिविरोधी ताकतें सिर उठाती रहीं। लेकिन बोलशेविकों के नेतृत्व में अत्यन्त कुशलता से रणनीतिक पैतरो का इस्तेमाल करते हुए समाजवादी सत्ता ने साम्राज्यवादियों और देशी प्रतिक्रियावादियों के हर षड्यन्त्र को शिकस्त दी।

(पेज 10 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

प्रिय पाठको,

मज़दूर बिगुल की टीम की कुछ अपरिहार्य व्यस्तताओं और कुछ अप्रत्याशित समस्याओं के कारण हमें इसके तीन अंकों का संयुक्तांक निकालना पड़ रहा है। इस बीच हमें देशभर से अनेक पाठकों के सन्देश और फ़ोन आते रहे हैं जो बेसब्री से अख़बार के हर अंक का इन्तज़ार करते हैं। हम इस देरी के लिए क्षमा प्रार्थी हैं और हमारी पूरी कोशिश होगी कि आगे से ऐसे व्यवधान न आयें। - सम्पादक मण्डल

आपस की बात

आज़ादी के सात दशक : किसकी आज़ादी - कैसी आज़ादी ?

प्रिय सम्पादक महोदय में पिछले कुछ महीनों से 'मज़दूर बिगुल' अख़बार नियमित तौर पर पढ़ रहा हूँ यह अख़बार आम जनता के बीच सही ख़बरें, सही विचार और सही विकल्प ले जाने का सराहनीय काम कर रहा है। इसके माध्यम से मैं आज़ादी के बारे में अपने कुछ विचार साझा करना चाहूँगा। इतिहासबोध से लैस और आम जन से जुड़े हुए साहित्यकार अकसर ऐसी बात कह जाते हैं जो आने वाली कई पीढ़ियों को हकीकत से रूबरू कराती रहती हैं। जिस समय पूरा देश आज़ादी के ज़श्र में डूबा हुआ था, ठीक उसी समय मशहूर शायर अली सरदार ज़ाफ़री ने एक नज़्म पढ़ी थी, जिसके चन्द बोल निम्न हैं :

किसके माथे से गुलामी की सियाही छूटी?

मेरे सीने में दर्द है महकूमी का

मादरे हिन्द के चेहरे पे उदासी है वही कौन आज़ाद हुआ?

इस 15 अगस्त के अवसर पर जिन दिनों देश का खाया-पीया-अघाया वर्ग आज़ादी का सालाना ज़श्र मना रहा था, नेताशाही झूठे आँकड़ों के माध्यम से जनता का मन मोहने में मशगूल थी, ठीक उसी समय गोरखपुर के अस्पताल में जापानी बुखार के चलते वहाँ भर्ती सैकड़ों नौनिहालों ने 'ऑक्सीजन सप्लाई' बन्द होने की वजह से तड़प-तड़पकर दम तोड़ दिया। कम्पनी ने ऑक्सीजन की आपूर्ति इसलिए बन्द कर दी, क्योंकि सरकार के द्वारा 63 लाख का भुगतान नहीं किया गया था। गोरखपुर चूँकि महन्त आदित्यनाथ का संसदीय क्षेत्र रहा है, इसलिए सरकार की फ़ज़ीहत होती देख बेहूदा बयानबाज़ियाँ की जाने लगीं, कहा गया कि अगस्त के महीने में तो बच्चे मरते ही हैं। कभी गन्दगी को मौतों का कारण ठहराया गया और जब बच्चों की मौतों का सिलसिला नहीं थमा तो योगी महाराज यहाँ तक कह गये कि सरकार का काम लोगों के

बच्चों का पालन-पोषण करना नहीं है! गोरखपुर ही नहीं बल्कि बनारस और रांची में भी सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं की अव्यवस्था का खामियाज़ा मासूमों को अपनी जान देकर चुकाना पड़ा। किन्तु यह बात दर्शनीय है कि इन हृदय-विदारक घटनाओं के बाद भी आज़ादी के ज़श्र में कोई खलल नहीं पड़ा।

अगस्त माह के दौरान ही देश के कई राज्य बाढ़ की भयंकर चपेट में आये। जिस समय मीडिया नेताओं-मन्त्रियों द्वारा अगले चुनावों की तैयारियों में गोठियाँ 'सेट' करने के लिए मन्त्रीमण्डलों में हो रहे फ़ेरबदल, बाबाओं-डेरों, चीन, पाकिस्तान, 'आतंकवाद' और ब्रिक्स की बैठक की 'धुँआधार रिपोर्टिंग' में व्यस्त था, ठीक उसी समय देश की बहुत बड़ी आबादी बाढ़ के कारण बर्बादी झेल रही थी। बिहार, असम, उत्तरप्रदेश, बंगाल और झारखण्ड बाढ़ से बुरी तरह से त्रस्त हुए। एक रिपोर्ट के मुताबिक देश के 1 करोड़ 20 लाख बच्चों समेत 3 करोड़ 10 लाख के करीब लोग बाढ़ से बुरी तरह से प्रभावित हुए। साढ़े 8 लाख से ज़्यादा घर तथा साढ़े 15 हजार से ज़्यादा स्कूल क्षतिग्रस्त हो गये। 10 लाख से ज़्यादा छात्रों की पढ़ाई बाढ़ के कारण प्रभावित हुई। 1 हजार से भी ज़्यादा लोगों ने बाढ़ में अपनी जान गँवा दी व कई लाख आबादी को विस्थापन का दंश झेलना पड़ा। यहाँ पर भी सही रूप में मदद करना तो दूर उल्टा जले पर नमक छिड़कने के लिए और अपनी काहिली-नाकामी को छिपाने के लिए नेता-मन्त्री ऊल-जुलूल बयान देते नज़र आये, जैसेकि बिहार के जल संसाधन मन्त्री ललन सिंह उर्फ़ राजीव रंजन ने कहा कि 'बाढ़ का कारण चूहे हैं, क्योंकि चूहों ने नदी-नालों के पाट/पटरी को खोखला कर दिया!' बाढ़ के बाद आने वाली बीमारियों-महामारियों से प्रभावित आबादी अब तक जूझ रही है।

उक्त दो घटनाएँ आज़ादी के बाद की सारी तरक्की और विकास का भेद खोलने के लिए काफ़ी हैं। इसमें कोई शक नहीं है कि 15 अगस्त 1947 को देश की जनता को औपनिवेशिक गुलामी से आज़ादी मिली जिसे निश्चय ही एक प्रगतिशील क़दम कहा जा सकता है। समझौते के द्वारा सत्ता हथियाकर शासन की गद्दी पर बैठने वाले पूँजीपति वर्ग ने भी आम जन के शोषण-दमन-उत्पीड़न में कोई कौर-कसर नहीं छोड़ी। कोई भी पार्टी सत्ता में आये किन्तु जनता की लूट बदस्तूर जारी रहती है। जब मानवता चाँद और मंगल ग्रह तक अपनी पहुँच बना रही है, उस समय हमारे यहाँ पर प्राकृतिक आपदाओं और एकदम उन बीमारियों से लोग मर जाते हैं, जिनका इलाज बहुत पहले विज्ञान ने खोज निकाला था। सही मायने में यह जनता की सच्ची आज़ादी नहीं हो सकती और चन्द धन्नासेठों का विकास पूरे समाज का विकास नहीं हो सकता। सच्ची आज़ादी तभी मानी जायेगी, जब मेहनतकशों को उनके श्रम का फल प्राप्त होगा, छात्रों-युवाओं के लिए शिक्षा-रोज़गार का समुचित प्रबन्ध होगा और सबसे बढ़कर यदि शहीदेआज़म भगतसिंह के शब्दों में कहें तो एक ऐसे समाज का निर्माण होगा जिसमें एक देश के द्वारा दूसरे देश व एक इंसान के द्वारा दूसरे इंसान का शोषण असम्भव हो जायेगा। फ़ैज़ के शब्दों में कहें तो -

‘ये दाग़ दाग़ उजाला,

ये शबगज़ीदा सहर

वो इन्तज़ार था जिसका,

ये वो सहर तो नहीं ...

चले चलो

कि वो मंजिल अभी नहीं आई...

- वि. मलिक,

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय,

रोहतक, हरियाणा

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट

www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :

www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्यवाही चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क्रतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :

मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना

डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul

खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200

पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकखर्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये
मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :

फ़ोन : 0522-4108495, 8853093555, 9936650658

ईमेल : bigulakhbar@gmail.com

फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006

फ़ोन: 8853093555

दिल्ली सम्पर्क : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928

ईमेल : bigulakhbar@gmail.com

मूल्य : एक प्रति - 5/- रुपये

वार्षिक - 70/- रुपये (डाक खर्च सहित)

आजीवन सदस्यता - 2000/- रुपये

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार खुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" - लेनिन

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।

बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।

सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव

आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:

डाक से भेजने का पता: मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

ईमेल से भेजने का पता: bigulakhbar@gmail.com

एनडीए सरकार द्वारा श्रम कानूनों में मज़दूर-विरोधी संशोधन के खिलाफ़ एक हों!

एनडीए सरकार द्वारा 'मेक इन इण्डिया', 'स्किल इण्डिया', 'डिजिटल इण्डिया' और 'व्यापार की सहूलियत' जैसे कार्यक्रमों का डंका बजाते हुए श्रम कानूनों में संशोधन किये जा रहे हैं। श्रम मन्त्रालय द्वारा 43 श्रम कानूनों को 4 बड़े कानूनों में समेकित किया जा रहा है। इसी कड़ी में 10 अगस्त 2017 को लोक सभा में 'कोड ऑफ़ वेजिस बिल, 2017' पेश किया गया। प्रत्यक्ष रूप से इस बिल का उद्देश्य वेतन सम्बन्धी निम्न चार केन्द्रीय श्रम कानूनों के प्रासंगिक प्रावधानों का एकीकरण व सरलीकरण करना है (1) पेमेण्ट ऑफ़ वेजिस एक्ट, 1936, (2) मिनिमम वेजिस एक्ट, 1948, (3) पेमेण्ट ऑफ़ बोनस एक्ट, 1965, (4) इक्वल रेम्युनेशन एक्ट, 1976। गौरतलब है कि प्रस्तावित संशोधन मज़दूर विरोधी हैं और मालिकों/प्रबन्धन के मुकाबले उनकी स्थिति को मज़बूती देने की जगह और कमज़ोर कर देते हैं। इसका विश्लेषण निम्नलिखित है।

रोज़गार सूची - इस कोड में एम्प्लॉयमेण्ट शेड्यूल को हटा दिया गया है जो श्रमिकों को कुशल, अर्ध-कुशल और अकुशल की श्रेणी में बाँटती थी। ये नियम उन मज़दूरों के लिए तो उपयोगी है जो लोग एम्प्लॉयमेण्ट शेड्यूल में नहीं हैं जैसे घरेलू मज़दूर (13 राज्यों को छोड़कर घरेलू मज़दूर शेड्यूल में नहीं आते, इसलिए न्यूनतम मज़दूरी दरें उन पर लागू नहीं होतीं)। परन्तु इसका दुष्प्रभाव कुशल और अर्ध-कुशल मज़दूरों पर होगा जो मालिक से अधिक वेतन प्राप्त करने योग्य हैं।

मज़दूरी तय करने के मापदण्ड - प्रस्तुत कोड में न्यूनतम मज़दूरी की दर समयानुसार (टाईम वर्क) और मात्रानुसार (पीस वर्क) तय होगी और वेतनकाल घण्टे, दिन या महीने के हिसाब से हो सकता है। मज़दूरी तय करने के लिए सरकार काम के लिए आवश्यक कौशल, कठिनाई, कार्यस्थल की दूरी और अन्य उपयुक्त पहलू ध्यान में रख सकती है। यह नियम खुलेआम सुप्रीम कोर्ट के न्यूनतम मज़दूरी सम्बन्धी फैसलों की धज्जियाँ उड़ाता है। सुप्रीम

कोर्ट ने यह कई बार दोहराया है कि न्यूनतम मज़दूरी मज़दूर की सभी आवश्यकताओं के हिसाब से तय होनी चाहिए। न केवल उसकी साधारण शारीरिक ज़रूरतों के आधार पर और न ही उत्पादन के आधार पर। इसके अनुसार न्यूनतम मज़दूरी तय करते समय आहार-पोषण, पहनने-रहने, इलाज का खर्च, पारिवारिक खर्च, शिक्षा, ईंधन, बिजली, त्योहारों और समारोहों के खर्च, बुढ़ापे और अन्य खर्चों का ध्यान रखा जाना चाहिए। 1992 के मज़दूर प्रतिनिधि सचिव बनाम रेसाकोस ब्रेट प्रबन्धन केस में सुप्रीम कोर्ट ने न्यूनतम मज़दूरी के लिए निम्न 6 मापदण्ड तय किये थे - (1) एक मज़दूर को 3 व्यक्तियों के उपभोग का पैसा मिले, (2) एक औसत भारतीय वयस्क के लिए न्यूनतम आहार आवश्यकता 2700 कैलोरी, (3) हर परिवार के लिए सालाना 72 यार्ड्स कपड़ा, (4) सरकारी औद्योगिक आवास योजना के अन्तर्गत प्रदान किये गये न्यूनतम क्षेत्र का किराया, (5) न्यूनतम मज़दूरी का 20% ईंधन, बिजली और अन्य खर्चों के लिए, (6) कुल न्यूनतम मज़दूरी में 25% बच्चों, स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन (त्योहार, समारोह आदि), बुढ़ापे, शादी आदि के लिए। बिल में इन सब मापदण्डों को खत्म करने का प्रयास है। हालाँकि कोड के अनुच्छेद 7 (2) के अनुसार राज्यों को जीवनयापन में होने वाले खर्चों के हिसाब से समय-समय पर वेतन निश्चित करने का प्रावधान है लेकिन यह बहुत ही अस्पष्ट है और यहाँ तक कि अनिवार्य भी नहीं है।

काम करने के घण्टे और ओवरटाइम - प्रस्तुत कोड के अनुच्छेद 13 के अनुसार सरकार यह तय कर सकती है कि एक आम दिन में कुल कितने घण्टे काम होगा। लेकिन सरकार निम्न कर्मचारियों के लिए इस नियम को ताक पर भी रख सकती है -

1. वे कर्मचारी जिन्हें किसी आपातकालीन काम में लगाया गया है जिसका पहले से अन्देश न हो
2. वे कर्मचारी जिनसे कोई ऐसा

काम लिया जा रहा है जो मुख्य काम का पूरक है और आम कामकाज के दौरान नहीं हो सकता

3. वे कर्मचारी जिनका रोजगार अनिश्चित है

4. वे कर्मचारी जो ऐसे काम में लगे हैं जो तकनीकी कारणों से ड्यूटी खत्म होने से पहले ही करने हैं

5. वे कर्मचारी जो ऐसा काम कर रहे हैं जो प्रकृति की अनियमितता पर निर्भर हैं

ये नियम पूरी तरह ओवरटाइम की वर्तमान व्यवस्था के खिलाफ़ हैं जिसके अनुसार दिन में 9 घण्टे से ज़्यादा और हफ़्ते में 48 घण्टे से ज़्यादा काम करना 'ओवरटाइम' कहलाता है। ओवरटाइम की इस परिभाषा को खत्म करके एवं पूरक कार्य और अनिश्चित काम के बहाने ये अनुच्छेद ओवरटाइम के लिए मिलने वाली अतिरिक्त मज़दूरी पर एक योजनाबद्ध हमला है।

मालिकों को बोनस से छुटकारा - 1965 के पेमेण्ट ऑफ़ बोनस एक्ट ने नयी कम्पनियों को बोनस न देने की छूट दी थी, लेकिन वर्तमान कोड नयी कम्पनी किसे कहा जा सकता है, इसे अस्पष्ट बनाकर पूरी तरह कम्पनियों को बोनस देने के नियम से छुटकारा दिलवाने के चक्कर में है। नयी कम्पनी की परिभाषा में अब किसी 'फ़ैक्टरी का ट्रायल रन' और 'किसी खान की पूर्वक्षणा की अवस्था' भी जोड़ दी गयी है, जिन पर कोई समय का बन्धन भी नहीं है। पुरानी कम्पनियाँ भी ट्रायल रन व पूर्वक्षणा की अवस्था के नाम पर मज़दूरों को बोनस देने से बच सकती हैं।

इस कोड ने कम्पनियों की आज्ञा के बिना उनकी बैलेंस शीट तक उजागर करने पर सरकारी अधिकारियों पर यह तर्क देते हुए प्रतिबन्ध लगा दिया है कि कम्पनियों पर विश्वास करना चाहिए और उन्हें अपने हिसाब-किताब की प्रमाणिकता का कोई सबूत भी देने की ज़रूरत नहीं है। यूनियनों या मज़दूरों को अब मुनाफ़ों से सम्बन्धित किसी स्पष्टीकरण के लिए ट्रिब्यूनल या आरबीट्रेटर के पास जाना होगा, जो कि

उपयुक्त लगने पर ही स्पष्टीकरण देने के लिए बाध्य होंगे।

वेतन में मनमानी कटौती - अनुच्छेद 18 मालिकों को यह अधिकार देता है कि वह किसी भी मज़दूर के असन्तोषजनक काम के चलते या अपने 'नुक़सान की पूर्ति' करने के लिए उसकी तनख्वाह काट सकते हैं! क्योंकि तनख्वाह काटने के लिए किसी भी प्रकार की औपचारिक प्रक्रिया की ज़रूरत ही नहीं रह जायेगी, मालिक इसका इस्तेमाल मनमाने ढंग से मज़दूरों को सज़ा देने के लिए करेंगे।

लिंग आधारित भेदभाव - प्रस्तुत कोड ने 1976 के इक्वल रेम्युनेशन एक्ट (बराबर वेतन अधिनियम) के उन प्रावधानों को खत्म कर दिया है जो महिलाओं के लिए रोजगार पैदा करने के पक्ष में थे और लिंग के आधार पर होने वाले भेदभाव के खिलाफ़ थे।

लेबर इन्स्पेक्टर की जगह 'फ़ैसिलिटेटर' - प्रस्तुत कोड कमिश्नर और इन्स्पेक्टर की जगह 'फ़ैसिलिटेटर' की बात करता है जो "कोड को लागू करने के लिए मालिकों और मज़दूरों को सुझाव देगा"। यह फ़ैसिलिटेटर राज्य सरकारों के नियमानुसार फ़ैक्टरियों का निरीक्षण करने के लिए भी जिम्मेदार होते हैं। लेकिन प्रस्तुत कोड ऑनलाइन निरीक्षण पर जोर देता है, जिससे अचानक किये जाने वाले शारीरिक निरीक्षण की प्रथा खत्म हो जायेगी। और तो और प्रस्तुत कोड इण्टरनेट द्वारा 'सेल्फ़-सर्टिफ़िकेशन' (आत्म-प्रमाणीकरण) का भी प्रावधान ले आया है।

ट्रेड-यूनियनों पर रोकटोक - यह बिल यूनियन की गतिविधियों में मज़दूरों को शामिल होने पर सीधा प्रतिबन्ध लगाने का प्रयास है। इसके तहत मज़दूरों की यूनियन की गतिविधियों में भागीदारी केवल चन्दे तक ही सीमित रह पायेगी।

मालिकों के खिलाफ़ कार्यवाही पर रोकटोक - 1948 के 'मिनिमम वेजिस एक्ट' (न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम) के अनुसार न्यूनतम मज़दूरी न देने से मालिक को जेल हो सकती है।

1983 के संजीत रॉय बनाम राजस्थान सरकार मामले में सुप्रीम कोर्ट ने यह फैसला सुनाया था कि न्यूनतम मज़दूरी न देना बेगारी/जबरदस्ती काम लेने के बराबर है, जो पूरी तरह असंवैधानिक है। इसके विपरीत प्रस्तुत कोड वेतन और बोनस के सवाल को आपराधिक मामले के दायरे से सिविल मामले के दायरे में ले आया है। जो मालिक कोड का उल्लंघन करेगा, उसे कोड को मानने का एक और मौक़ा दिया जायेगा और सज़ा देने से पहले कोड न मानने के पीछे का कारण पूछा जायेगा। अपराधी द्वारा समझौते से निपटारा कर लेने पर उसके अपराधों को पूरी तरह माफ़ कर दिया जायेगा।

वेतन में संशोधन के लिए तय समयसीमा का ख़ात्मा - 1948 के मिनिमम वेजिस एक्ट के अनुसार ज़रूरत पड़ने पर न्यूनतम मज़दूरी में संशोधन होना चाहिए और यह संशोधन अधिकतम पाँच साल के भीतर हो जाना चाहिए। यह ट्रेड यूनियनों के लिए बहुत महत्वपूर्ण प्रावधान है, क्योंकि इसी के दम पर वे प्रबन्धन से वार्ता करती हैं। लेकिन प्रस्तुत कोड में इस नियम पर भी हमला किया गया है। अनुच्छेद 8 के अनुसार - "उपयुक्त सरकार हर 5 साल बाद न्यूनतम मज़दूरी दर की समीक्षा या संशोधन करेगी"। समीक्षा का विकल्प लाकर 5 साल के अन्तराल में वेतन संशोधन की अनिवार्यता वाले प्रावधान को एक तरह से खत्म ही कर दिया गया है।

प्रस्तुत कोड के ज़रिये लाये जा रहे संशोधन सीधे-सीधे मालिकों के पक्ष को और मज़बूती देते हैं और मज़दूरों के हकों की लम्बी लड़ाई को खारिज़ करते हैं।

एनडीए सरकार की मज़दूर-विरोधी नीतियों के खिलाफ़ एक हों!
— पीपल्स यूनियन फ़ॉर डेमोक्रेटिक राइट्स (नवम्बर 2017)
(हिन्दी अनुवाद - प्रबल अग्रवाल)

काकोरी के शहीदों को याद करो! लोगों को धर्म के नाम पर बाँटने की साज़िशों को नाकाम करो!!

आज से 90 साल पहले 17 दिसम्बर और 19 दिसम्बर 1927 को देश के चार जाँबाज़ युवा आज़ादी के लिए कुर्बान हो गये थे। एच.आर.ए. (हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन) से जुड़े इन नायकों के नाम थे रामप्रसाद बिस्मिल, अशफ़ाक़ उल्ला खान, रोशन सिंह और राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी। भारत के आज़ादी आन्दोलन में 'काकोरी एक्शन' एक महत्वपूर्ण घटना है। 9 अगस्त 1925 के दिन 10 नौजवानों ने काकोरी नामक जगह पर चलती रेल रोककर अंग्रेज़ी खजाने को लूट लिया था। भारत में लूट, शोषण और दमन पर टिके अंग्रेज़ी साम्राज्य के मुँह पर 'काकोरी एक्शन' एक करारा तमाचा था। दमन चक्र के बाद मुकदमें की नौटंकी करके कईयों को कठोर कारावास और चार को फाँसी

की सज़ा सुनाई गयी जबकि चन्द्रशेखर आज़ाद को कभी गिरफ़्तार ही नहीं किया जा सका। एच.आर.ए. वही संगठन था जिसकी विरासत को लेकर भगतसिंह और उनके साथी आगे बढ़े और 1928 में उन्होंने एच.एस.आर.ए. (हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन) के रूप में दल को विकसित किया। चन्द्रशेखर आज़ाद इसके 'कमाण्डर इन चीफ़' बने।

अंग्रेज़ अपनी फूट डालो और राज करो की नीतियों के द्वारा हिन्दू और मुस्लिम साम्प्रदायिकता को लगातार बढ़ावा दे रहे थे। अनेक राष्ट्रीय नेता अपने साम्प्रदायिक रुझान दिखला रहे थे। इस दौर में तबलीगी जमात, हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसों के नेतृत्व में धर्म

के नाम पर लोगों को बाँटने की शुरुआत हो गयी थी। साम्प्रदायिकता की यह राजनीति लाखों निर्दोषों की लाशों पर से होते हुए विभाजन तक पहुँची और आज पहले से भी भयानक रूप में फैलायी जा रही है। उसी समय हमारे ये क्रान्तिकारी अपने जीवन से मिसालें कायम कर रहे थे। 'गदर' आन्दोलन के क्रान्तिकारियों की तरह ही 'एच.आर.ए.' और 'एच.एस.आर.ए.' का भी यह स्पष्ट मानना था कि धर्म एक व्यक्तिगत मसला होना चाहिए और उसका राज्य मशीनरी व राजनीति में इस्तेमाल बिलकुल भी नहीं होना चाहिए।

दोस्तो! आज हमारा समाज एक बड़े बदलाव के मुहाने पर खड़ा है। यही वो हालात होते हैं जब समाज के अन्दर से बिस्मिल, अशफ़ाक़, आज़ाद, सराभा

और भगतसिंह जैसे नायक पैदा होते हैं। निश्चित तौर पर हमारे वो महान शहीद भी अवतार और मसीहा नहीं बल्कि परिस्थितयों की ही पैदावार थे। जैसा कि भगतसिंह ने कहा है 'बम और पिस्तौल इन्क़लाब नहीं लाते बल्कि इन्क़लाब की तलवार विचारों की सान पर तेज़ होती है।' आज जनता को जगाने का काम, जातिवाद-साम्प्रदायिकता की आग में झुलस रहे लोगों को असल समस्याओं के प्रति शिक्षित, जागरूक और संगठित करने का काम ही सबसे महत्वपूर्ण काम है। जान की बाजी लगाकर जनता के प्रति अपनी सच्ची मोहब्बत सिद्ध कर देने वाले हमारे महान शहीदों को आज की युवा पीढ़ी की यही असल सलामी हो सकती है।

साथियो! इतिहास बताता है कि

कोई भी व्यवस्था सनातन नहीं है। हर समाज बदलता है और उसे इंसान ही बदलते हैं। देश के युवाओं को आज तमाम भ्रष्ट चुनावी पार्टियों व धार्मिक कट्टरपन्थी संगठनों का झण्डा धूल में फेंक कर 'समान शिक्षा-सबको रोजगार' का झण्डा अपने हाथ में उठा लेना चाहिए। पानी, बिजली, स्वास्थ्य आदि के मुद्दे पर आम जनता को गोलबन्द करना चाहिए। बेहतर विचारों, बेहतर आदर्शों को खुद आत्मसात करना चाहिए व देश के एक-एक इंसान तक पहुँचाने की मुहिम में जुट जाना चाहिए। अपने शहीदों के समता व न्याय पर टिके समाज के सपने को पूरा करने के लिए मैदान में उतर जाने का संकल्प ही शहीदों को सच्ची श्रद्धांजलि होगी। क्या आप तैयार हैं?

16 दिसम्बर 'दिल्ली निर्भया काण्ड' की पाँचवीं बरसी पर

स्त्री विरोधी अपराधों पर चुप्पी तोड़ो! अपराधियों के पैदा होने की ज़मीन की शिनाख्त करो!

16 दिसम्बर 2012 को हुए दिल्ली में हुए 'निर्भया काण्ड' को पाँच साल हो जायेंगे। उस समय से लेकर अब तक बहुतेरे दिन, महीने और साल बीत गये पर स्त्री विरोधी अपराधों में कितनी कमी आयी है यह सबके सामने है। 2012 में बलात्कार के जहाँ 24,923 मामले दर्ज हुए थे वहीं 2016 में इनकी संख्या बढ़कर 38,947 हो गयी है! नवम्बर 2017 में आयी 'राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो' की रिपोर्ट के मुताबिक साल 2016 में कुल 3,38,954 स्त्री विरोधी आपराधिक मामले दर्ज हुए हैं जबकि 2012 में इनकी संख्या 2,44,270 थी। निर्भया (दिल्ली) - डेल्टा (राजस्थान) - जीशा (केरल), गुडिया (शिमला, हिमाचल) - गुडिया (उकलाना, हरियाणा) और न जाने कितनी निर्दोष बलात्कार तथा हत्या की बली चढ़ा दी जाती हैं; इसका सही-सही कोई अनुमान नहीं है। हर दिन पहले से भी ज़्यादा बर्बर घटनाएँ सामने आ रही हैं। ऐसा लगता है जैसे कानून-पुलिस-नेताशाही और समाज बस आँखों पर पट्टी बाँधकर गुंगे-बहरे बने बैठे हैं। और ये मामले तो वे हैं जो दर्ज होते हैं, जो दर्ज ही नहीं हो पाते या फिर माता-पिता लोक-लाज के

भय से दर्ज कराते ही नहीं उनका तो कोई हिसाब नहीं है! उक्त रिपोर्ट के ही अनुसार नये-पुराने 4,97,482 मामलों में पुलिस कार्यवाही चल रही है और 13,42,060 मामले अभी न्यायालय के अधीन हैं।

जहाँ थानों तक में से स्त्री विरोधी अपराधों के मामले सामने आ जाते हों, जहाँ संसद तक में बलात्कार के आरोपी पहुँच जाते हों और जहाँ लाखों मामले न्यायालयों के पोथों में दफन हो जाते हों, वहाँ हम केवल व्यवस्था और सरकारों के भरोसे कैसे बैठे रह सकते हैं? नहीं, बिलकुल नहीं! ऐसा करना तो 'अपने पैरों पर ही कुल्हाड़ी मारना होगा'। पहला सवाल तो हमें खुद से पूछना चाहिए कि हम आधी आबादी को बराबरी का दर्जा देते हैं या नहीं? उसके स्वयं हेतु लिये गये निर्णयों-फैसलों को मंजूरी देते हैं? यदि नहीं, तो हमारे ऊपर और हमारी पढ़ाई-लिखाई पर धिक्कार है! कोई बुरा माने चाहे भला, फिर हम एक स्वस्थ समाज में रहने के लायक नहीं हैं! बहुत सी महिलाएँ तो खुद ही स्त्री विरोधी सोच से ग्रसित होती हैं, उन्हें भी इस सोच से संघर्ष करना होगा क्योंकि जो खुद को पहले ही गुलाम मान कर बैठ जाता है

उसे दुनिया की कोई ताकत आज़ाद नहीं करा सकती। दूसरा सवाल हमें मौजूदा मुनाफा केन्द्रित पूँजीवादी व्यवस्था पर उठाना पड़ेगा। इस बात में कोई झूठ नहीं है कि अपना समाज ओढ़ने-पहनने की तरफ से ही आधुनिक बना है, विचारों में अब भी यहाँ मध्ययुगीन-पिछड़ी सोच का ठीक-ठाक बोलबाला है। पूँजीवाद जब यहाँ विकसित हुआ तो वह उस समय ऐतिहासिक तौर पर अपने मानववाद और जनवाद के दर्शन से खाली हो चुका था।

आज जिस रूप में पूँजीवाद यहाँ विकसित हुआ है उसने हर चीज़ की तरह स्त्रियों को भी बस खरीदे-बेचे जा सकने वाले सामान में तब्दील कर दिया है। उसने अश्लीलता फैलाना भी मोटे पैसे कमाने का धन्धा बना दिया। अमीरजादों की "ऐयाशियों" की तो चर्चा ही क्या हो, 1990-91 से जारी 'उदारीकरण और निजीकरण' की नीतियों के लागू होने के बाद ज़मीन बेचकर और सब तरह के उल्टे-सीधे कामों से पैसा कमाकर मध्यवर्ग से भी नये अमीर तबके का उभार हुआ है। कुछ तो नये-नये पैसे का नशा और कुछ 'कोढ़ में खाज' पूँजीवाद की गलीज संस्कृति, कुल-मिलाकर इस तबके का

आच्छा-खास्सा हिस्सा लम्पट हो गया। इसे लगता है कि पैसे के दम पर कुछ भी खरीदा जा सकता है, नोचा-खसोटा जा सकता है! इसके अलावा यह व्यवस्था गरीब आबादी में भी सांस्कृतिक पतनशीलता का ज़हर हर समय घोलती रहती है। लगातार मौजूद रहने वाली बेरोज़गारी, नशे-पत्ते, आसानी से उपलब्ध अश्लील साहित्य, 'पोर्न' वीडियो, फ़िल्मों आदि के कारण स्त्री विरोधी/समाज विरोधी तत्त्व लगातार पैदा होते रहते हैं। औरतों को सिर्फ बच्चे (यशस्वी पुत्र) पैदा करने की मशीन समझने वाली और उन्हें चूल्हे-चौखट-घर की चहारदीवारी में कैद करने हेतु लालायित पितृसत्ता की मानसिकता के भी बहुत सारे रूप मौजूद हैं। पूँजीवादी व्यवस्था भी पितृसत्ता का पूरा इस्तेमाल करती है। यही कारण है कि स्त्री विरोधी बेहूदी-फूहड़ बयानबाजी करने वाले नेताओं, मन्त्रियों और जाति-धर्म के ठेकेदारों का कुछ भी नहीं बिगड़ता।

हमें ऐसी व्यवस्था का विकल्प सोचना ही पड़ेगा जो औरतों को माल और सामान की तरह पेश करे, सबकुछ बाज़ार के मातहत ला दे, लोगों के आगे संस्कृति के नाम पर कूड़ा परोसे, समाज की बहुत बड़ी आबादी को

बेरोज़गारी की दलदल में धकेल दे और फिर उसे नशों-अश्लीलता की खुराक देकर नष्ट-भ्रष्ट कर दे! बेशक व्यवस्था परिवर्तन का यह रास्ता लम्बा है पर हमें शुरुआत तो कहीं से करनी ही पड़ेगी। इसका बीड़ा न सिर्फ युवा लड़कियों, औरतों को खुद उठाना पड़ेगा बल्कि इन्साफ़ के हक़ में खड़े नौजवानों, मर्दों को भी कन्धे से कन्धा मिलाकर साथ खड़ा होना होगा। आज न्याय का यही तकाज़ा है। समझना-समझाना-बदलना एकसाथ चलेगा!

हमें मिलकर तमाम स्त्री विरोधी अपराधों के खिलाफ़ आवाज़ उठानी होगी। ऐसे अपराधों का जुझारू संगठन खड़े करके प्रतिरोध करना होगा। वह हर सार्वजनिक जगह; जो आधी आबादी से सुरक्षा का हवाला देकर छिनी जा रही है उसपर बार-बार और हर बार हक़ का मुक्का ठोकना होगा। एकजुटता और संघर्ष के बल पर हम सरकारों, व्यवस्था के ठेकेदारों को स्त्री विरोधी मामलों को संज्ञान में लेने, अपराधियों को कठोर सज़ा देने, उत्पीड़ितों को न्याय देने हेतु न सिर्फ़ विवश कर सकेंगे बल्कि इस संघर्ष की प्रक्रिया में हम व्यवस्था की कमजोरियों और सीमाओं को भी जानेंगे। — बिगुल डेस्क

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हॉस्टल मेस कर्मचारियों का संघर्ष ज़िन्दाबाद! लेबर कोर्ट के फैसले के बाद भी स्थायी कर्मचारी होने की माँग को लेकर आन्दोलन जारी

- बिगुल संवाददाता

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हॉस्टल मेस कर्मचारी विगत 26 दिनों से अपनी माँगों को लेकर प्रदर्शनरत हैं। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में हॉस्टल में काम कर रहे इन कर्मचारियों को विश्वविद्यालय प्रशासन अपना कर्मचारी मानने तक से इनकार करता रहा है। मात्र 5000 की तनखाह पाने वाले ये कर्मचारी हर साल अपनी माँगों को लेकर आवाज़ उठाते रहे हैं, और हर साल प्रशासन उन्हें यही हवाला देता रहा है कि वे विश्वविद्यालय के कर्मचारी हैं ही नहीं, उन्हें लेबर कोर्ट जाना चाहिए। कर्मचारियों की रजिस्टर्ड यूनिन, होटल मेस कर्मचारी यूनिन ने केस डाला भी और लेबर कोर्ट से बीते 31 मार्च को उनके हक़ में फैसला भी आ गया। जिस फैसले में उन्हें विश्वविद्यालय के कर्मचारी मानने, न्यूनतम वेतन लागू करने व पक्के किये जाने की बात थी। मगर विश्वविद्यालय प्रशासन ने फैसले को मानने से साफ़ इनकार कर दिया है। प्रशासन का कहना है कि उनके पास कर्मचारियों को देने के लिए पैसे नहीं हैं, वहीं दूसरी तरफ़ विश्वविद्यालय में हो रहे 'रत्नावली' में बहाने के लिए काफ़ी पैसे हैं।

पिछले दिनों विश्वविद्यालय में मौजूद तमाम छात्र संगठनों ने भी छात्र-मज़दूर एकता के नारे को बुलन्द करते हुए कर्मचारियों के हक़ में कुलपति को ज़ापन सौंपा, जिस पर कुलपति ने उन्हें राजनीति से दूर रहने की नसीहतें दे डालीं! हॉस्टल मेस में काम करने वाले लगभग 300 लोग अपने परिवारों के साथ हॉस्टल से बाहर अपने एक कमरों के क्वार्टर

यानी झोपड़ियों में रहने को मजबूर हैं। जब उनका बिजली का बिल ही 1000-500 रुपये के करीब आता है, तब ऐसे में 5000 रुपये में घर चलाना कितना मुश्किल होगा, यह साफ़ ज़ाहिर है। प्रशासन ने अपने हाथ सीधे इस मामले से खींच लिए हैं। कुलपति के कान पर प्रदर्शनों का कोई असर नज़र नहीं आ रहा। सबसे हास्यास्पद बात तो यह है कि कुलपति के अनुसार ये विश्वविद्यालय के नहीं बल्कि हॉस्टल में रहने वाले 'बच्चों' के नौकर हैं। कर्मचारी रोज़ अपनी बैठक करते हैं, और उसके बाद विश्वविद्यालय में रैली निकालकर अपनी आवाज़ बुलन्द करते हैं। पर आज 26 दिनों में भी प्रशासन की तरफ़ से किसी ने उनकी सुध तक नहीं ली है। वहीं एक कर्मचारी का कहना है कि प्रशासन उनसे खिलवाड़ कर रही है। जिस दिन उन्होंने डीसी, कुरुक्षेत्र को ज़ापन सौंपने की योजना बनायी थी, उस दिन प्रशासन ने उन्हें यह कहकर रोक दिया कि वो उनकी समस्या का हल निकालेंगे। पर अब वे कोई भी समझौता करने से साफ़ इंकार कर चुके हैं। अब तक तो कर्मचारियों ने काम बन्द कर हड़ताल शुरू नहीं की है, पर यदि प्रशासन का यही रवैया रहा तो अपने आन्दोलन को और तेज़ करने से वे भी पीछे नहीं हटेंगे। और इतना ही नहीं, वे विश्वविद्यालय में पढ़ रहे छात्रों से भी अपील करेंगे कि इस संघर्ष में वो उनका साथ दें। इस बार तो लेबर कोर्ट का फैसला भी उनके हक़ में है। ऐसे में देखना यह है कि कुलपति की तानाशाही कब तक चलेगी!

हरियाणा के चौशाला गाँव में अवैध खुर्दें (अवैध शराबी ठेका) बन्द करने के लिए प्रदर्शन

चौशाला गाँव (कैथल ज़िला) में लम्बे समय से चल रहे शराब के खुर्दों पर पाबन्दी लगाने के लिए कलायत एसडीएम कार्यालय का घेराव किया। नौजवान भारत सभा व नशा विरोधी कमेटी के बैनर तले महिलाओं, युवाओं ने कैंची चैक से नशा परोसने वालों के खिलाफ़ तख्ती और बैनर के साथ रोष प्रदर्शन की शुरुआत की। एसडीएम कार्यालय पर घेराव में अवैध खुर्दें से परेशान जनता ने ज़िला पुलिस प्रशासन के खिलाफ़ नारेबाजी की और एसडीएम के नाम ज़ापन सौंपा। नौजवान भारत सभा के प्रवीन ने बताया कि आज हम देखें तो हर गाँव में किसी-न-किसी रूप में नशे के कारोबार को लगातार बढ़ावा दिया जा रहा है। गरीब जनता और नौजवानों की निराशा का फ़ायदा उठाकर उनको नशे की लत का शिकार बनाया जा रहा। गाँव में जगह-जगह शराब के अड्डे खोले जाते हैं। ताकि लोगों का ध्यान असली मुद्दों की तरफ़ जाने की बजाय नशे की तरफ़ चला जाये। और इन सब साज़िशों में पुलिस-प्रशासन की मिलीभगत होती है। असल में सरकार ऐसे-ऐसे छुटभैया नेताओं और ठेकेदारों को नशे का कारोबार करने के लिए तरह-तरह से उनकी सहायता करती है। गाँव-गाँव में स्टेडियम, हॉस्पिटल, स्कूलों में टीचर की व्यवस्था, गाँव में पार्कों की व्यवस्था और गाँव के हर बगड़-बगड़ में जिम जैसे संस्थान खोलने की बजाय, गाँव में जगह-जगह शराब के खुर्दों को खोला जा रहा है। ताकि नशे का कारोबार करने

वालों का बिज़नेस ज़्यादा से ज़्यादा बढ़े। और उनको ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा आये। आज नशे का कारोबार करने वाले लोगों की जेबों में से 10 रुपये भी निकालने के लिए आमदा हैं।

नशा विरोधी कमेटी के रमन व सोनू ने कहा कि आज युवा आबादी को नशे के कारोबार को बढ़ावा देने वालों के खिलाफ़ एकजुट होने का समय है। गाँव के स्तर पर नशे के कारोबार करने वालों के खिलाफ़ कार्यवाही की माँग को हमने एसडीएम के समक्ष रखा है और उनसे अपील की है कि गाँव के स्तर पर नशा बेचना बन्द करवाया जाये। अगर आज हम इन सब चीज़ों को लेकर एकजुट होकर नहीं लड़ेंगे, तो याद रहे इस निराशा के दौर में किसी भी घर से कोई भी इस बुरी लत की चपेट में आ सकता है। जो हमारे परिवार, आस-पड़ोस और गाँव के लिए बहुत हानिकारक होगा। और बच्चों पर इसका बुरा असर पड़ेगा। आज हमें ज़रूरत है इन सब बुराइयों के खिलाफ़ ऐसे संगठन, ऐसी कमेटियाँ गाँव-गाँव में बनाने की, जो लोगों को इन सब बुराइयों के खिलाफ़ एकजुट करें। गाँव में शराब के अवैध खुर्दें बन्द करवाने में महिलाओं, युवाओं व बच्चों ने हमारा साथ दिया। ताकि हमारे गाँव से हम नशे को ख़त्म कर सकें और गाँव को एक हद तक नशा-मुक्त बना सकें। और गाँव के लोगों का ध्यान नशे की बजाय, गाँव का विकास न होने के असल मुद्दों पर जाये।

- बिगुल संवाददाता,
हरियाणा

वाम गठबंधन की भारी जीत के बाद नेपाल किस ओर ?

नेपाल में भारी बहुमत पाकर वाम गठबंधन सत्तारूढ़ होने जा रहा है। के.पी. ओली का प्रधानमंत्री बनाना लगभग तय है। कयास इस बात के लगाये जा रहे हैं कि माधव नेपाल और प्रचण्ड में से एक देश का राष्ट्रपति बनेगा और दूसरा ने.क.पा. (ए.मा.ले.) और ने.क.पा. (माओवादी केन्द्र) के प्रस्तावित विलय के बाद अस्तित्व में आने वाली पार्टी का अध्यक्ष।

इस घटना-क्रम पर दो कोणों से विचार किया जाना चाहिए। पहला, राजनीतिक कोण और दूसरा विचारधारात्मक कोण।

राजनीतिक दृष्टिकोण से देखें तो पूरे एशिया के परिदृश्य में इस घटना से, वस्तुगत तौर पर, कुछ सकारात्मक बदलाव आयेंगे। नेपाल में लम्बे समय बाद एक स्थिर सरकार बनने के बाद नेपाल ज्यादा सन्तुलित कूटनीति के द्वारा भारत और चीन में सन्तुलन स्थापित करेगा, अपने आर्थिक विकल्पों का विस्तार (मुख्यतः चीन की ओर) करके भारत पर अपनी निर्भरता को कम करेगा, भारतीय क्षेत्रीय विस्तारवाद का ज्यादा प्रभावी ढंग से मुकाबला करेगा और पिछले दिनों मधेस प्रश्न पर विवाद के दिनों में भारतीय नाकेबन्दी से पैदा हुई दुश्चारियों जैसी किसी स्थिति से निपटना उसके लिए आसान हो जायेगा। वैसे, उस घटना का ही नतीजा था कि चीन के साथ नेपाल ने सम्बन्ध मजबूत करने शुरू किये और आज नेपाल का चीन के साथ व्यापार भारत के साथ व्यापार की तुलना में आगे निकल चुका है। नेपाल चीन की महत्वाकांक्षी 'वन रोड वन बेल्ट' परियोजना में भी शामिल हो चुका है। चीन के सहयोग से नेपाल में सड़क और रेल की अति महत्वाकांक्षी परियोजनाओं के लिए बातचीत और सर्वेक्षण पहले ही शुरू हो चुका है। वाम गठबंधन ने नेपाल में बिजली उत्पादन में भारी बढ़ोत्तरी और भारी उद्योगों की अवस्थापना के लक्ष्य की पहले से ही घोषणा कर दी है। चीन के आर्थिक-तकनीकी सहयोग से इन लक्ष्यों को प्राप्त करना ज्यादा कठिन नहीं है। चीन से प्रतिस्पर्द्धा के कारण, आसान शर्तों पर सहयोग करना भारत

की भी मजबूरी होगी और पहले की तरह धौंसपट्टी का व्यवहार अब उसके लिए सम्भव नहीं हो सकेगा।

हालाँकि एशिया के पैमाने पर इस राजनीतिक घटना-क्रम का एक दूसरा पहलू भी है। "बाज़ार समाजवाद" के मुखौटे वाला, उभरता हुआ चीनी साम्राज्यवाद पूरे एशिया के पैमाने पर तेज़ी से अपना प्रभुत्व-विस्तार कर रहा है और इस मामले में भारतीय पूँजीवाद उसके मुकाबले कहीं नहीं ठहरता। 'वन बेल्ट वन रोड प्रोजेक्ट', दक्षिण चीन सागर पर एकछत्र प्रभुत्व का दावा, श्रीलंका में हम्बनटोटा और पाकिस्तान में ग्वादर जैसे बन्दरगाहों का निर्माण (म्यांमार के साथ भी ऐसी ही परियोजना पर बात जारी है), ईरान और मध्य-एशियाई देशों के साथ घनिष्ठ व्यापार-सम्बन्ध आदि चीनी महत्वाकांक्षा के संकेत मात्र हैं। नेपाल में भी चीन कोई 'सांता क्लॉज़' बनकर नहीं आ रहा है। उसकी निगाह नेपाल की सस्ती श्रम-शक्ति और सस्ते कच्चे माल के अकूत भण्डार पर है। यही नहीं, पूँजीवादी विकास के गति पकड़ने और मुद्रा-अर्थव्यवस्था के मजबूत होने के बाद नेपाल चीनी उत्पादों का भी एक बड़ा बाज़ार होगा।

इस तरह, नेपाल दूरगामी तौर पर ज्यादा गहरे साम्राज्यवादी शोषण और देशी पूँजीवादी शोषण की गिरफ्त में जकड़ जायेगा। लेकिन वस्तुगत रूप से, नेपाल इतिहास की यात्रा में आगे कदम बढ़ा देगा, क्योंकि वहाँ पूँजीवादी विकास और नये सिरे से पूँजीवादी वर्ग-ध्रुवीकरण की गति तेज़ हो जायेगी और आधुनिक औद्योगिक सर्वहारा वर्ग का तेज़ी से विस्तार होगा। नेपाल का पूँजीवादी रूपान्तरण साम्राज्यवादी शक्तियाँ भी चाहती हैं (क्योंकि नेपाल में प्राक-पूँजीवादी अवशेषों की समाप्ति और राष्ट्रीय बाज़ार के सुदृढ़ीकरण के बाद ही वहाँ नव-उदारवाद की नीतियों को प्रभावी ढंग से लागू किया जा सकता है) और नेपाल का पूँजीपति वर्ग भी यही चाहता है। इस काम को मौजूदा वाम गठबंधन की सरकार

– आलोक रंजन

नेपाली कांग्रेस से अधिक प्रभावी ढंग से कर सकती है, इसलिए वाम गठबंधन के सत्तारूढ़ होने से, चीन ही नहीं, बल्कि दुनिया की अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों को भी कोई आपत्ति नहीं, बल्कि खुशी ही है। भारत के शासक वर्गों की नाखुशी का कारण नेपाल में उनके हितों का सिकुड़ना है।

वाम गठबंधन क्रमिक गति से, ऊपर से, पुराने भूस्वामियों को रियायतें देते हुए ही सही, लेकिन बुर्जुआ भूमि-सुधार के बचे हुए कामों को भी पूरा करने के लिए बाध्य होगा, क्योंकि श्रम के सामन्ती बन्धनों से मुक्ति के बिना पूँजीवादी राष्ट्रीय बाज़ार का निर्माण सम्भव नहीं होगा। इस तरह नेपाल का पूँजीवाद के रास्ते पर तेज़ी से आगे बढ़ना अपरिहार्य हो गया है। कहा जा सकता है कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के बचे-खुचे कार्यों का पूरा हो जाना सुनिश्चित हो जाने के साथ ही नेपाल का अब नयी समाजवादी क्रान्ति (साम्राज्यवाद-विरोधी पूँजीवाद-विरोधी क्रान्ति) की मंजिल में प्रविष्ट होना सुनिश्चित हो चुका है। इस गति को न तो रोका जा सकता है और न ही वापस घुमाया जा सकता है।

अब हम इस नये बदलाव के विचारधारात्मक पक्ष की ओर आते हैं। वाम गठबंधन की भावी सरकार संसदीय मार्ग से बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के बचे-खुचे कार्यभारों को तो पूरा कर ही लेगी (सरकार आगे नेपाली कांग्रेस या किसी और गठबंधन की भी बने, तो उसे यह काम करना ही होगा) लेकिन इसके साथ ही नेपाल भूमण्डलीकृत विश्व-अर्थतंत्र के साथ ज्यादा आर्गेनिक ढंग से जुड़ जायेगा और उसकी वैसी ही दशा कालान्तर में होगी जो लातिन अमेरिका और अफ्रीका के कई पिछड़े पूँजीवादी देशों की आज है। इससे बचना तभी सम्भव होता, यदि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के कार्यभार क्रान्तिकारी तरीके से पूरे किये जाते और फिर वहाँ समाजवादी संक्रमण की शुरुआत

हो जाती। लेकिन क्रान्तिकारी वाम के संशोधनवादी विपथ-गमन के चलते नेपाल ने वह अवसर खो दिया।

संसदीय मार्ग से पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को तो पूरा किया जा सकता है, लेकिन समाजवाद की दिशा में संक्रमण कदापि नहीं किया जा सकता। न मार्क्सवाद की विचारधारा इसके पक्ष में गवाही देती है, न ही दुनिया का इतिहास। इसीलिए हमारा यह स्पष्ट और दृढ़ मत है कि नेपाल के क्रान्तिकारी वाम आन्दोलन को विगत एक दशक के दौरान भारी धक्का लगा है। ने.क.पा. (ए-मा-ले) तो पहले से ही देड़ श्याओ-पिड के "बाज़ार समाजवाद" और खुशेवी शान्तिपूर्ण संक्रमण के मार्ग की राही रही है। मदन भण्डारी के समय ही यह पार्टी बहुदलीय जनवाद की बात करते हुए सर्वहारा अधिनायकत्व की लेनिनवादी अवधारणा को छोड़ चुकी थी। प्रचण्ड की पार्टी ने भी एक दशक से भी अधिक पहले समाजवादी संक्रमण के दौरान बहुदलीय शासन-प्रणाली की अवधारणा प्रस्तुत करके वही राह पकड़ ली थी। लेकिन कम राजनीतिक चेतना के कारण कतारों में फिर भी लम्बे समय तक विभ्रम बना रहा। अब लेकिन विभ्रम का कुहासा काफी हद तक छँट चुका है। ने.क.पा. (माओवादी केन्द्र) का विचारधारात्मक विचलन पूरी पार्टी के निचले स्तर के नेतृत्व और कतारों के एक हिस्से तक भ्रष्ट राजनीतिक-सामाजिक-व्यक्तिगत आचरण के रूप में प्रकट होने लगा है। पार्टी ढाँचे का क्रान्तिकारी चरित्र तबाह हो चुका है, सदस्यता एकदम चवन्निया हो गयी है, 4000 लोगों की (!!!) तो केन्द्रीय कमेटी है, नयी कतारों की राजनीतिक शिक्षा का स्तर शून्य है और उनमें असामाजिक तत्व भी घुस गये हैं। अब ने.क.पा. (ए-मा-ले) से एकता के फैसले की घोषणा के बाद ने.क.पा. (माओवादी केन्द्र) के "माओवाद" का पूरा पर्दाफाश हो चुका है। संसदीय वाम बुर्जुआ

जनवाद की दूसरी सुरक्षा-पंक्ति का काम करता है, लेकिन नेपाल में तो इसने अपनी वफ़ादारी इस कदर प्रमाणित की है कि पहली सुरक्षा-पंक्ति बन गया है।

समस्या यह है कि प्रचण्ड को संशोधनवादी कहते हुए अलग राह लेने वाले किरण वैद्य या विप्लव जैसे लोगों से भी कोई उम्मीद नहीं है। अतीत में ऐसी तमाम पार्टियों के नेतृत्व ने अवसरवाद, उदारतावाद या बचकानेपन का परिचय दिया है। इनके व्यवहार का अनुमान नहीं लगाया जा सकता और इनका भविष्य संदिग्ध है। न तो इन संगठनों में नेपाल के क्रान्तिकारी वाम का नया केन्द्र बनाने की सामर्थ्य है, न ही उन तमाम अपरिपक्व छोटे-छोटे संगठनों में जो संशोधनवाद के विरोध और माओवाद/माओ विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता का अनुष्ठानिक दावा करते रहते हैं। इस मायने में नेपाल के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन को एक ऐतिहासिक धक्के का सामना करना पडा है।

बहुत सारे भावुकतावादी कम्युनिस्टों में संशोधनवादी वाम गठबंधन की भारी जीत से यदि कुछ ज्यादा ही उम्मीदें पैदा हो गयी हैं तो यह अच्छी बात नहीं है क्योंकि मिथ्या उम्मीद नाउम्मीदी से भी बुरी चीज़ होती है। एक अच्छी बात यह है कि संघर्षों में तपी-मंजी नेपाल की कम्युनिस्ट कतारों का एक अच्छा-खासा हिस्सा इस बात को समझता जा रहा है और आने वाले दिनों में इसे वह और बेहतर तरीके से तथा और तेज़ी से समझेगा।

नेपाल में कम्युनिस्ट आन्दोलन की जड़ें बहुत गहरी हैं और अभी भी विभिन्न संगठनों में कर्मठ क्रान्तिकारी कतारों की संख्या बहुत विशाल है। मौजूदा कोई भी सांगठनिक केन्द्र इन्हें ऐक्यबद्ध करने और नेतृत्व देने की क्षमता नहीं रखता।

लेकिन कतारों के बीच से किसी नयी क्रान्तिकारी पहल और किसी नए क्रान्तिकारी केन्द्र के उदय की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता। बल्कि भविष्य तो इसी दिशा में इंगित कर रहा है।

गुलामों की नयी फ़ौजें सजेंगी, हिल उठेगी
रोम की ताक़त और आतंक पिघलेगा।
महल वर्साय का फिर धूल में मिल जायेगा,
गतिरोध टूटेगा, महाविद्रोह उठेगा।
कम्यूनार्ड पेरिस के उठेंगे हर नगर में,
अब्रोरा जलपोत से फिर तोप गरजेंगे।
लातिनी अमेरिका, एशिया में, अफ्रीका में
क्रान्तियों के रक्तवर्णी मेघ बरसेंगे।

उठो ओ नौजवानो!
इन्क़लाबों के नये संस्करण
रचने का समय फिर आ रहा है
कि जीवन को चटख गुलनार
करने का समय फिर आ रहा है।

– शशि प्रकाश

हिम्मत से सीना तानो!

ये बुरे दिन जल्दी ही छूट जायेंगे
आजादी के दुश्मन के खिलाफ़ खड़े हो जाओ
एकजुट होकर!
बसन्त आयेगा...वह आ रहा है.. वह आ रहा है
अनोखी ख़ूबसूरत हमारी बहुवांछित
वह लाल आजादी
आगे आ रही है! देखो इधर
हमारी ओर...

– लेनिन की एकमात्र कविता से

झारखण्ड में भूख से बच्ची की मौत पूँजीवादी ढाँचे द्वारा की गयी एक और निर्मम हत्या

— पराग वर्मा

पिछले माह झारखण्ड के सिमडेगा में 11 साल की सन्तोषी कुमारी की भूख से तड़प-तड़प कर मौत हो गयी। आधार कार्ड से लिंक न करवा पाने के कारण उस परिवार का राशन कार्ड निरस्त कर दिया गया था और उसे जुलाई से राशन नहीं मिला था। उसके परिवार वाले कहते हैं कि उनकी बेटी ने पिछले आठ दिनों से कुछ नहीं खाया था और उसकी मौत गरीबी व भूख के कारण हुई है। सन्तोषी की माँ कोयली देवी ने कहा कि 'मेरी बेटी भात-भात कहते हुए मर गयी'। स्कूल बन्द होने की वजह से मिड-डे मील का भी विकल्प नहीं था। दूसरी तरफ़ प्रसाशन के आला अधिकारी सन्तोषी की मौत का कारण मलेरिया बताते हैं। कई बरस से लोग भूख से मर रहे हैं, लेकिन सरकार हमेशा मृत्यु का दोष पीड़ित व्यक्ति या उसके परिवार पर मढ़ देती है और इस बात से साफ़ इंकार करती है कि इस देश में किसी की मौत भूख के चलते भी होती है। झारखण्ड के मुख्यमंत्री ने गरीब की भूख से मौत की कीमत पचास हजार आँकी है और पीड़ित परिवार को 50 हजार की सहायता देने का निर्देश दिया है। इसी प्रकार कुछ दिन पहले झारखण्ड के ही धनबाद में 40 साल के वैद्यनाथ दास की भूख और आर्थिक तंगी के कारण मौत हो गयी। वैद्यनाथ 30 रुपये रोज़ पर भाड़े पर रिक्षा चलाता था। बताया जाता है कि वैद्यनाथ के परिवार के पास खाद्य सुरक्षा के अन्तर्गत राशन कार्ड तक नहीं था। अखबारों में हम इसी तरह की अन्य खबरें अकसर पढ़ते हैं जिसमें किसी अज्ञात व्यक्ति का शव बरामद हुआ होता है, जो दो दिन से भूखा था या गरीबी के चलते किसी ने फाँसी लगा ली होती है या भूख से मजबूर औरत कचड़े से खाना बटोरती पायी जाती है। लोग इस तरह इन खबरों के आदि हैं कि कुछ लोग तो अगले ही क्षण इनको भूल जाते हैं और कुछ लोग केवल दया और करुणा की भावना से मानवीय संवेदना व्यक्त कर देते हैं। परन्तु इन घटनाओं को केवल एक मानवतावादी दृष्टिकोण से देखना भी इन भूखमरी से पीड़ितों के साथ अन्याय है, क्योंकि यह दृष्टिकोण भूखमरी की जड़ों पर प्रहार नहीं करता है।

आज दुनिया-भर में मेहनतकश आबादी की भोजन और स्वच्छ पानी जैसी बुनियादी ज़रूरतें भी पूरी नहीं हो पा रही हैं। जहाँ कुछ देश दिवालिया होने की क्रगार पर पहुँच चुके हैं, वहीं कुछ भोजन और पानी के लिए तरस रहे हैं। कुछ विकसित देश भी हैं जो अपनी ऐतिहासिक साम्राज्यवादी लूट की धरोहर होने के कारण तुलनात्मक रूप से सम्पन्न हैं, परन्तु इसके बावजूद आज ये देश भी लम्बे मन्दी के दौर से गुजर रहे हैं और गरीब मजदूरों के लिए बेरोजगारी और अस्थिरता की स्थिति वहाँ भी मौजूद है। उल्लेखनीय है कि

इस समय दुनियाभर में डेढ़ अरब ऐसे लोग हैं, जिन्हें दो वक्रत की रोटी तक नहीं मिल पाती है और प्रतिदिन 24 हजार लोग किसी जानलेवा बीमारी से नहीं, बल्कि भूख से मरते हैं। इस संख्या का एक तिहाई हिस्सा भारत के हिस्से में आता है। भूख से मरने वाले इन 24 हजार में से 18 हजार बच्चे हैं। और इन 18 हजार का एक तिहाई यानी 6 हजार बच्चे भारतीय हैं। यह सब ऐसे समय हो रहा है, जब इन सभी देशों में खाद्यान्नों के अतिरिक्त भण्डार भी भरे पड़े हैं। हरित क्रान्ति के बाद भारत में भी अनाज का उत्पादन तेज़ी से बढ़ा जिसकी वजह से किसानों से अनाज खरीदकर सरकार खाद्य निगम के गोदाम भरती है और इस अत्याधिक अनाज को सुरक्षित रखने के लिए भी काफ़ी पैसे खर्च करती है। कई बार तो ये अनाज गोदाम में रखे-रखे सड़ा दिया जाता है, ताकि शराब के व्यवसायियों को बेचकर पैसा कमाया जा सके। अन्य विकासशील देशों की

संसाधनों का इस्तेमाल केवल अपने मुनाफ़े को ध्यान में रखके करता है।

भूखमरी निश्चित रूप से गरीबी से जुड़ी हुई समस्या है। विश्व साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के द्वारा किया जाने वाला तथाकथित विकास ही भूखमरी की जड़ है। पूँजीवाद में कुछ लोगों द्वारा प्राकृतिक सम्पदा और उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार है और मुनाफ़े पर आधारित एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें मुट्ठी-भर मालिकों द्वारा अधिकांश लोगों के श्रम का क्रूर शोषण होता है। पूँजीवाद में आर्थिक संकट में फँसे पूँजीपति बैंक को बचाने के लिए अधिक धन धड़ल्ले से बाँटा जाता है, लेकिन समाज को कुपोषण, बीमारी और भूखमरी से आज़ाद करने की दिशा में कोई ठोस प्रयास नहीं किया जाता। इस व्यवस्था में चिकित्सा और शिक्षा पर खर्च करने की जगह युद्ध और हथियारों में निवेश को ज्यादा अहमियत दी जाती है। इस प्रक्रिया में कुछ के हाथों में जहाँ

हम देखते हैं कि अत्यधिक भोजन गोदामों में रखा हुआ सड़ जाता है, पर गरीबों तक नहीं पहुँचता क्योंकि वहाँ पहुँचने में उसे मुनाफ़ा नहीं है। भूखमरी से सम्बन्धित ज्यादातर रिपोर्ट भी केवल यहीं तक सीमित रहती हैं कि खाद्य सामग्री की बर्बादी को सही तकनीक और बेहतर प्रभावशाली कार्यविधियों द्वारा इस हद तक सही किया जा सकता है कि खाद्यान्न की बचत होगी और उससे भूखमरी का खात्मा हो जायेगा। पर वे इस सच्चाई पर मौन रहती हैं कि तमाम तकनीकी विकास के बावजूद खाद्य सामग्री गरीबों तक इसलिए नहीं पहुँचती है, क्योंकि इस व्यवस्था में उसके लिए कोई भौतिक इनाम नहीं है। मुनाफ़ा-केन्द्रित व्यवस्था में उत्पादन ज्यादा करने की होड़ रहती है, लेकिन चूँकि बहुसंख्यक आबादी की क्रयशक्ति लगातार कम होती जाती है इसलिए भूखमरी जैसी समस्याएँ बरकरार रहती हैं।

और प्रौद्योगिकी मुनाफ़े के अधीन काम कर रहे हैं। इसका ही दूसरा पहलू यह है कि अरबों गरीब किसान पुराने तरीकों से काम करते हुए अपनी क्षमताओं को बर्बाद करते हैं।

2007-08 से जारी पूँजीवादी आर्थिक संकट ने पूरे विश्व में लाखों लोगों के स्वास्थ्य और जीवन को प्रभावित किया है। बहुत से लोगों के रोज़गार छिन गये हैं, जिनके हैं उन्हें नौकरी खोने का डर बना हुआ है। श्रमिकों के घरों में उनके परिवारों के लिए पर्याप्त भोजन खरीदना कठिन होता जा रहा है और कई लोग अन्य सुविधाओं में कटौती कर रहे हैं ताकि उनके बच्चे खा सकें। कॉरपोरेट खाद्य उद्योग से निकला पौष्टिक भोजन बहुत कम आय वाले परिवारों की पहुँच से दूर होता है। चूँकि पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन को चलाने के लिए श्रम लगता है जिसके लिए मजदूर भी ज़रूरी होते हैं और इसलिए इस व्यवस्था में ही एक सस्ता और घटिया भोजन भी पैदा होता है जिसे सरकारी खाद्य कार्यक्रमों द्वारा या कम मुनाफ़े पर श्रमिकों को उपलब्ध कराया जाता है। यदि मजदूर एकदम कुछ नहीं खायेगा तो भी पूँजीपतियों को घाटा होता है, क्योंकि फिर उनकी फ़ैक्टरियों में काम कौन करेगा।

पूँजीवादी विकास के कारण भारत में कृषि उत्पादन एक संकट के दौर में है और ग्रामीण आबादी का एक बड़े हिस्सा कृषि से दूर होकर आज अप्रवासी श्रमिक के रूप में शहरों की तरफ़ अग्रसर हो रहा है जहाँ वह प्रायः अनौपचारिक क्षेत्र में मजदूरी करता है। कृषि उत्पादों के भारी मात्रा में निर्यात और कृषि क्षेत्र में एफ़डीआई को बढ़ावा देने से मँझौले और छोटे किसान खुद की जीविका साधने लायक भी नहीं पैदा कर पाते। सूखाग्रस्त क्षेत्रों में ऐसे कई किसान कर्ज़ के बोझ के कारण आत्महत्या तक कर लेते हैं। ऐसी स्थितियाँ लोगों को लम्बे समय तक भूखमरी अवधि में रहने के लिए मजबूर करती हैं।

वैश्विक गरीबी उन्मूलन के लिए जो नुस्खा विश्व पूँजीवाद के नेता और इस व्यवस्था के पैरोकार बुद्धिजीवी देते हैं, वह लोगों को गुमराह करता है। वे निरंकुश पूँजीवाद को थोड़ा मानवीय बनाने के लिए खैरात की किस्म-किस्म की तिकड़में सुझाते हैं। सच्चाई तो यह है कि यह समस्या पूँजीवाद के ढाँचे में निहित है। मुनाफ़ा-केन्द्रित ढाँचे के भीतर गरीबी अथवा भूखमरी उन्मूलन असम्भव है क्योंकि यह ढाँचा ही इसको जन्म देता है। भूखमरी की समस्या का खात्मा भी उत्पादन व्यवस्था को मुनाफ़े की अधीनता से मुक्त करके और सभी की ज़रूरतों को पूरा करने के उद्देश्य पर टिकी व्यवस्था में ही सम्भव हो सकता है। केवल ऐसी व्यवस्था ही कृषि विज्ञान में हुई प्रगति का इस्तेमाल सभी के लिए प्रचुर, पौष्टिक और सुरक्षित भोजन का उत्पादन करने में कर सकती है।



प्रसिद्ध कार्टूनिस्ट सतीश आचार्य का कार्टून, 'द हिन्दू' से साभार

तरह भारत में भी भूखमरी कुपोषण का ही गम्भीरतम रूप है। कुपोषण पर किये शोध प्रदर्शित करते हैं कि प्रति व्यक्ति पोषक तत्वों की खपत गिर रही है। भारत में आज भी अधिकांश गरीबों के लिए बहुत आवश्यक खाद्यान्न की उपलब्धता तक नहीं होती है और अमीर और गरीब के बीच असमानताओं की खाई हर दिन बढ़ती ही जा रही है। आज के युग में जब विज्ञान और तकनीक के कारण सूचना, संचार और परिवहन व्यवस्था ने इतनी तरक्की कर ली है कि सभी नागरिक सेवाओं के अच्छे इन्तज़ाम किये जा सकते हैं तब भी यदि कोई व्यक्ति कई दिनों तक न खाने की वजह से मर जाता है तो यह इस व्यवस्था के रहनुमाओं के लिए चुल्लू भर पानी में डूब मरने वाली बात है। इसका कारण साफ़ है, जीवित रहने के ज़रूरी संसाधनों पर जिस वर्ग का एकाधिकार है वह इन

धन केन्द्रित होता है, वहीं अधिकांश आबादी कंगाल होती जाती है।

शक्तिशाली लोगों की विलासिता और भोजन की बर्बादी के बीच में, दुनिया की अधिकांश जनसंख्या भोजन, स्वास्थ्य जैसे बुनियादी संसाधनों की कमी से जूझती रहती है। एक पूँजीवादी समाज में, भोजन के उत्पादन के पीछे का उद्देश्य लोगों का पेट भरना नहीं होता है और स्वास्थ्य सेवाएँ मुख्य रूप से लोगों को स्वस्थ रखने के लिए नहीं प्रदान की जाती हैं। ये चीज़ें जिन्हें मूल अधिकार के रूप में देखा जाना चाहिए, पूँजीवाद में माल के सिवाय और कुछ भी नहीं हैं जिसे बेचकर मुनाफ़ा कमाया जा सकता है। यदि कोई मुनाफ़ा नहीं बनाया जा सकता है तो आमतौर पर अधिक उत्पादन के कारण, तो उस वस्तु को पूँजीपतियों द्वारा बेकार माना जाता है और नष्ट कर दिया जाता है। इसलिए

अकसर यह बताया जाता है कि भूखमरी का कारण खाद्यान्न की कमी है, पर यह एक मिथक है। सच तो यह है कि विश्व में इतना भोजन का उत्पादन होता है कि सभी का पेट भरना सम्भव है। एक ओर सुपरमार्केट की अलमारियों में रंगबिरंगे डिब्बों में खान-पान की सामग्री स्टॉक करके रखी हुई है, वहीं दूसरी ओर विश्व-भर में रोज़ 1.6 करोड़ बच्चे और 3.3 करोड़ वयस्क भूखे सोते हैं। पूँजीवादी मुनाफ़े की होड़ के कारण भोजन की कीमतें मजदूरों और मेहनतकशों की पहुँच से अधिक होती हैं और हमेशा बढ़ती जाती हैं। आज विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुई प्रगति के कारण दुनिया की काम करने वाली आबादी का एक छोटा हिस्सा भी अगर खेतों में काम करे तो दुनिया-भर की आबादी का पेट भरने में सक्षम है परन्तु आधुनिक खाद्य उत्पादन, विज्ञान

मौजूदा दौर के किसान आन्दोलनों की प्रमुख माँगें बनाम छोटे किसानों, मज़दूरों और सर्वहारा वर्ग के साझा हित

- इन्द्रजीत

तमिलनाडु के तिरुनेलवेली ज़िले के कलेक्ट्रेट के सामने एक गरीब मज़दूर परिवार ने आत्मदाह कर लिया। 23 अक्टूबर को घटी इस हृदय-विदारक घटना के बाद मज़दूर की हालात नाज़ुक बतायी जा रही है, जबकि उसकी पत्नी और दो छोटी-छोटी बेटियों ने आग में झुलसने के कारण दम तोड़ दिया। मज़दूर परिवार सूखोरी से तंग आकर जनसुनवाई के लिए कलेक्टर दफ़तर गया था। 1 लाख 40 हजार रुपये कर्ज़ के बदले 2 लाख रुपये चुका देने के बावजूद भी इन्हें मौत को गले लगाना पड़ा! भारत की मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था के मानवद्रोही चरित्र को दर्शाने के लिए चन्द आँकड़े ही पर्याप्त होंगे। अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन ('आईएलओ') की एक पुरानी रिपोर्ट बताती है कि पूरी दुनिया में होने वाली लगभग 22 लाख श्रमिकों की मौतों में से अकेले भारत में ही करीब 44,000 हर साल औद्योगिक दुर्घटनाओं के कारण असमय मृत्यु का शिकार होते हैं, और अब श्रम क़ानूनों को जिस तरह से बर्बाद किया जा रहा है तो हालात की भयंकरता को समझा ही जा सकता है। 30 दिसम्बर 2016 को जारी की गयी राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो ('एनसीआरबी') के आँकड़ों के अनुसार ही कर्ज़ के बोझ, सूखे आदि के रूप में आर्थिक तबाही और सबसे बढ़कर सरकारों की जनविरोधी नीतियों के चलते साल 2015 में 12,602 किसानों और खेत मज़दूरों ने आत्महत्या की थी, जो कि साल 2014 में हुई आत्महत्याओं में 2 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी थी। कोई भी संवेदनशील व्यक्ति इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि उद्योग, खेती-किसानी और छोटे-मोटे काम-धन्धों से जुड़ी देश की बहुत बड़ी आबादी का जीना मुहाल है। इतिहास और आज के हालात दोनों ही बताते हैं कि अन्याय-दमन-शोषण के विरुद्ध जनता का संघर्ष भी साथ-साथ चलता है, यानी कि चाहे सचेतन तौर पर या फिर अचेतन, चाहे योजनाबद्ध ढंग से या फिर स्वतःस्फूर्त किन्तु हक़-अधिकार के लिए लोग लड़ते ज़रूर हैं। कई हजार साल का वर्ग संघर्ष का अनुभव और खासतौर पर बीसवीं सदी की क्रान्तियों और सामाजिक प्रयोगों के अनुभव निश्चय ही हमारे आज के संघर्षों के लिए मददगार साबित होते हैं। इतिहास चूँकि निरन्तरता और परिवर्तन के द्रव्य से आगे बढ़ता है, इसीलिए आज की हमारी लड़ाई के लिए पुराने सिद्धान्त और अनुभव नये का सन्धान करने में सहायक भी होते हैं।

इतनी बात के बाद अब हम आते हैं मुद्दे की बात पर। यानी अपनी बात को फ़सलों का लाभकारी मूल्य बढ़ाने, लागत मूल्य घटाने, स्वामीनाथन कमेटी की सिफ़ारिशों को लागू कराने आदि माँगों व गरीब किसानों, खेत मज़दूरों, औद्योगिक मज़दूरों और सर्वहारा वर्गियों के सन्दर्भ में इन माँगों की

प्रासंगिकता पर केन्द्रित करते हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि आज के समय में देश की बहुत बड़ी गरीब किसान आबादी तबाही और बर्बादी झेल रही है। जैसे तो आमतौर पर पूँजीवादी समाज में वर्ग ध्रुवीकरण होता ही रहता है - यानी कि समाज में एक तरफ़ बदहाली, गरीबी और कंगाली बढ़ती है तो दूसरी ओर मुट्टीभर आबादी के पास संसाधनों का अम्बार लगता जाता है - किन्तु 1991 में कांग्रेस-नीत 'यूपीए' गठबन्धन के समय में लागू की गयी व भाजपा-नीत 'एनडीए' गठबन्धन की सरकार के द्वारा अनुमोदित की गयी उदारिकरण-निजीकरण की धन्नासेठों की हितैषी और जनविरोधी नीतियों ने 'कोढ़ में खाज' का काम किया है। यह अनायास ही नहीं है कि भारत में गरीबों और अमीरों के बीच आय असमानता 1922 के मुक़ाबले 2014 में और भी ज्यादा बढ़ गयी है। खेती के बाज़ारीकरण व कॉरपोरेटीकरण ने गरीब किसानों को उजाड़ने की दर में बेतहाशा बढ़ोत्तरी की है। नेतृत्व की मंशाएँ चाहे जो हों किन्तु देश-भर में गरीब किसानों का अच्छा खासा हिस्सा आन्दोलनरत है, किसान यात्राएँ निकाली जा रही हैं, कहीं-कहीं पर सत्ता की लाठी-गोली का भी सामना लोग कर रहे हैं। दिल्ली के जन्तर-मन्तर पर तमिलनाडु के किसान काफ़ी दिन तक अपनी माँगों को लेकर डेरा डाले रहे, मध्यप्रदेश के मन्दसौर में किसान आन्दोलन उग्र हो गया तथा पुलिस की गोलियों से 6 किसानों को अपनी जान गँवानी पड़ी, राजस्थान में 13 दिन तक किसानों का बड़ा आन्दोलन चला। जोत का आकार लगातार घटता जा रहा है, खेती के बाज़ारीकरण, कॉरपोरेटीकरण के कारण बड़ी पूँजी वाले धनी किसान और 'एग्रो बिज़नेस' कम्पनियाँ तो मुनाफ़ा कमा जाती हैं किन्तु छोटा और गरीब किसान अपनी लागत भी नहीं निकाल पाता। आर्थिक मन्दी से कराह रही पूँजीवादी व्यवस्था में सरकारों ने "कल्याणकारी राज्य" का चोला अब पूरी तरह से उतार फेंका है और खुले तौर पर देशी-विदेशी पूँजी की चाकरी हो रही है। पूँजीवादी राज्य की नीतियों को फिर से कल्याणकारी राज्य की तरफ़ मोड़ना आकाश कुसुम को निहारने के समान है। निश्चय ही पिछले कुछ ही सालों के दौरान गुज्जर, जाट, पटेल, मराठा, कापू आदि पेशेवर किसान जातियों के नौकरियों और शिक्षा में आरक्षण की माँग को लेकर उठे आन्दोलन भी किसानों के बीच पसरी घोर निराशा, असहायता, मायूसी और असुरक्षा-बोध को ही दर्शाते हैं।

ऐसे दौर में उजड़ते हुए किसान यानी सीमान्त, छोटे और गरीब किसान को बचाने के लिए जो माँगें उठायी जा रही हैं, जो नारे दिये जा रहे हैं, जो योजनाएँ सुझायी जा रही हैं - उनकी पड़ताल अत्यावश्यक है। क्या उक्त माँगें, नारे और योजनाएँ गरीब किसानों की सही सच्ची माँगें हो सकती हैं? उजड़ते छोटे किसानों की असल माँगें क्या हों यह

सिर्फ़ भावना का सवाल नहीं है बल्कि तर्क का भी सवाल है। समाज परिवर्तन के क्रान्तिकारी आन्दोलन में चूँकि गरीब किसान मज़दूर वर्ग का सबसे विश्वस्त साथी है, इसलिए भी सर्वहारा के नज़रिये और वर्ग दृष्टिकोण से कुछ नुक्तों पर साफ़ नज़र होना ज़रूरी है।

पूँजीवादी व्यवस्था की आम गतिकी और किसान

आज की मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था भी समाज विकास के दौरान अस्तित्व में आयी ऐतिहासिक सीमाओं में बँधी एक व्यवस्था ही है। मुख्य तौर पर शोषित और शोषक में बँटे हमारे इस समाज में मज़दूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग के अलावा अन्य वर्ग भी अस्तित्वमान हैं जिनकी स्थिति ऊपर-नीचे होती रहती है जैसे छोटे व्यापारी, दुकानदार, छोटे कारखानेदार, किसान, कारीगर इत्यादि। पूँजीवादी व्यवस्था चूँकि निजी स्वामित्व पर आधारित व्यवस्था है इसलिए उत्पादन मानवीय ज़रूरत की बजाय मुनाफ़े को केन्द्र में रखकर किया जाता है। मोटे तौर पर कहें तो पूँजीपति यानी की पूँजी का स्वामी वर्ग और सर्वहारा यानी कि ऐसा वर्ग जिसके पास उत्पादन के कोई साधन नहीं हैं, यह वर्ग अपनी मानसिक और शारीरिक श्रमशक्ति बेचने के लिए जैसे तो आज़ाद है किन्तु उसे कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में पूँजीवादी गुलामी में फँसकर अपनी श्रमशक्ति बेचनी ही पड़ती है। पूँजी असल में कुछ और नहीं बल्कि 'संचित श्रम' ही है जिसे पूँजीपति वर्ग श्रमिक वर्ग से निचोड़ता है और उसे मात्र इतना ही मिलता है जिससे उसका बस गुजारा-भर हो सके और मज़दूरों की अगली नस्ल तैयार हो सके। पूँजी संकेद्रण भी पूँजीवादी समाज की आम प्रवृत्ति है। बड़ी पूँजी छोटी पूँजी को लगातार हड़पकर और लीलकर ही आगे बढ़ती है। कृषि की स्थिति भी पूँजीवाद के आम नियमों से स्वतन्त्र नहीं होती, जिस पर हम आगे बात करेंगे। प्राक् पूँजीवादी समाज में उत्पादन आमतौर पर जहाँ उपभोग के लिए और छोटे पैमाने पर होता था इसलिए उत्पादक किसान, दस्तकार या कारीगर कह सकता था कि उत्पाद पर उसका या कुछ ही लोगों का श्रम लगा है, वहीं पूँजीवादी समाज में उत्पादन बहुत बड़े पैमाने पर होता है जिसमें सामूहिक श्रम का इस्तेमाल होता है। अब उत्पाद एक तरह से सामूहिक श्रम की पैदावार होता है, कई बार तो तैयार माल के पीछे प्रत्यक्ष तौर पर ही हजारों-हजार लोगों की मेहनत लगी होती है, तथा अप्रत्यक्ष तौर पर अन्य लोग उक्त उत्पाद में लगे लोगों की अन्य ज़रूरतें पूरी करते हैं। कहने का मतलब पैदा तो पूरा समाज मिलकर करता है किन्तु क्या पैदा किया जाये और कितना पैदा किया जाये, यह निर्णय लेने का काम पूँजीपति वर्ग करता है और नियन्त्रण उसके हाथ में होता है। एक पूँजीपति भले ही उत्पादन अनुशासन के साथ करवाता हो किन्तु

समूची व्यवस्था में उत्पादन पूरी तरह से अराजक तरीके से होता है। यही कारण है कि अतिउत्पादन और बेरोज़गारी पूँजीवादी व्यवस्था के आम नियम हैं यानी एक तरफ़ मालों से भरे गोदाम तो दूसरी तरफ़ ज़रूरतमन्दों का हुजूम, ध्यान रहे पूँजीवाद में आपकी माँग को माँग तभी माना जायेगा जब उसे पूरा करने के लिए आपकी जेब में पैसा हो! उत्पादन का सामाजिक स्वरूप और मालिकाने का निजी स्वरूप ही पूँजीवादी व्यवस्था का सबसे प्रमुख अन्तर्विरोध होता है। पूँजीवाद में उत्पादन शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का अन्तर्विरोध इसी रूप में अभिव्यक्त होता है जो इस व्यवस्था को अन्त की तरफ़ ले जाता है। यानी कि सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में समाज की क्रान्तिकारी ताकतें पूँजीवादी राज्यसत्ता और व्यवस्था को चकनाचूर करके समाजवादी व्यवस्था का निर्माण करती हैं। जब मालिकाने का स्वरूप भी उत्पादक शक्तियों के ही अनुरूप सामाजिक कर दिया जाता है, तभी अराजकतापूर्ण पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की बजाय नियोजित समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना की जाती है।

समाज में मौजूद सभी वर्ग अपने ऐतिहासिक योगदान के तौर पर ही प्रगतिशील और प्रतिक्रान्तिकारी होते हैं, क्रान्तिकारी और प्रतिक्रान्तिकारी होते हैं। मज़दूर वर्ग के अग्रणी शिक्षकों - कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा लिखित कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र की निम्न पंक्तियों से इस बात को हम और आसानी से समझ सकते हैं, "निम्न मध्यम वर्ग के लोग - छोटे कारखानेदार, दुकानदार, दस्तकार और किसान - ये सब मध्यम वर्ग के अंश के रूप में अपने अस्तित्व को नष्ट होने से बचाने के लिए पूँजीपति वर्ग से लोहा लेते हैं। इसलिए वे क्रान्तिकारी नहीं, रूढ़िवादी हैं। इतना ही नहीं, चूँकि वे इतिहास के चक्र को पीछे की ओर घुमाने की कोशिश करते हैं, इसलिए वे प्रतिक्रान्तिकारी हैं। अगर कहीं वे क्रान्तिकारी हैं तो सिर्फ़ इसलिए कि उन्हें बहुत जल्द सर्वहारा वर्ग में मिल जाना है; चुनाँचे वे अपने वर्तमान नहीं, बल्कि भविष्य के हितों की रक्षा करते हैं; अपने दृष्टिकोण को त्यागकर वे सर्वहारा का दृष्टिकोण अपना लेते हैं।"

लाभकारी मूल्य बढ़ाने और लागत मूल्य घटाने की माँग, किसके हित में है?

पिछले दो-तीन दशकों से किसान आन्दोलनों में उठायी जाने वाली सबसे प्रमुखतम दो माँगें हैं; पहली है फ़सल का लाभकारी मूल्य बढ़ाने की माँग और दूसरी है कृषि में होने वाली लागत को कम करने की माँग। स्वामीनाथन आयोग की सिफ़ारिशों में भी उक्त दोनों ही माँगों को स्थान दिया गया है। सन 2004 में तत्कालीन कांग्रेस-नीत 'यूपीए' सरकार के कार्यकाल में मोनकोम्पू साम्बासिवन स्वामीनाथन की अध्यक्षता में अनाज की आपूर्ति को सुनिश्चित करने लिए तथा किसानों की आर्थिक हालत को

बेहतर करने के मक़सद से बनी 'नेशनल कमीशन ऑन फ़ार्मर्स' ने अपनी पाँच रिपोर्टें सरकार के सामने पेश की थीं। आयोग के द्वारा अन्तिम व पाँचवीं रिपोर्ट 4 अक्टूबर 2006 को सौंपी गयी थी। सरकारों द्वारा 'न्यूनतम समर्थन मूल्य' ('एमएसपी') औसत लागत से 50 प्रतिशत अधिक करने और कर्ज़ माफ़ी समेत लागत मूल्य कम करने के अलावा आयोग द्वारा की गयी सिफ़ारिशों में भूमि सुधार, सिंचाई, खाद्य सुरक्षा, किसान आत्महत्याओं के समाधान, राज्य स्तरीय किसान आयोग बनाने, सेहत सुविधाओं से लेकर वित्त-बीमा की स्थिति सुनिश्चित करने पर बल दिया गया था। किन्तु कोई भी समस्या हो उसके समाधान के लिए न केवल इतिहासबोध की ज़रूरत होती है, बल्कि समाधान हेतु कौरी भावनाओं से काम नहीं चलता बल्कि हमारी भावनाएँ तर्क और विज्ञान की ठोस ज़मीन पर टिकी होनी चाहिए। जैसाकि मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक माओ-त्से तुङ् ने कहा है कि 'तथ्यों से सत्य का निवारण करना चाहिए' तो उक्त माँगों को तथ्यों-आँकड़ों की रोशनी में थोड़ा परखते हैं। निश्चय ही देश की काफ़ी बड़ी आबादी कृषि से जुड़ी है किन्तु औसत जोत का आकार छोटा होने के कारण प्रति व्यक्ति उत्पादकता बेहद कम है, बहुत बड़ी आबादी तो मज़दूरी में खेती-किसानी में उलझी हुई है, जिसके पास कोई वैकल्पिक रोजगार नहीं है। 2005-06 की कृषि गणना के अनुसार हरित क्रान्ति के अग्रणी राज्यों में से एक हरियाणा में 67 प्रतिशत भूमि मालिकों के पास 2 हेक्टेयर से कम और 48 प्रतिशत के पास 1 हेक्टेयर से भी कम कृषि भूमि थी। देश के स्तर पर देखा जाये तो 2011 के सामाजिक-आर्थिक सर्वे व 2011-12 की कृषि जनगणना के अनुसार गाँवों के करीब 18 करोड़ परिवारों में से 54 प्रतिशत श्रमिक हैं, 30 प्रतिशत खेती, 14 प्रतिशत सरकारी/गैर-सरकारी नौकरी, 1.6 प्रतिशत गैर-कृषि कारोबार से जुड़े हैं। सिर्फ़ खेती पर निर्भर 30 प्रतिशत आबादी में 85 प्रतिशत सीमान्त और छोटे किसान हैं जिनके पास क्रमशः 1 से 2 हेक्टेयर और 1 हेक्टेयर से कम ज़मीन है। ऊपर के मध्यम और बड़े 15 प्रतिशत किसानों के पास कुल कृषि योग्य ज़मीन का करीब 56 प्रतिशत है। हम सिर्फ़ किसानों की ही बात करें तो स्थिति साफ़-साफ़ दिखायी देती है कि उनका बहुत बड़ा हिस्सा रसातल में है तथा छोटी जोत होने के कारण न केवल इस हिस्से की उत्पादन लागत औसत से अधिक आती है बल्कि पूँजी के अभाव में यही हिस्सा कर्ज़ के बोझ तले भी दबा रहता है। औसत उत्पादन लागत में आने वाले खर्च के कारण 2013 के सैम्पल सर्वे के अनुसार केवल 13 प्रतिशत किसान ही न्यूनतम समर्थन मूल्य, लाभकारी दामों का फ़ायदा उठा पाते हैं। और भाजपा के आने के बाद तो यह आँकड़ा 6 प्रतिशत तक भी पहुँचा है। और यदि सही पड़ताल

मौजूदा दौर के किसान आन्दोलनों की प्रमुख माँगें बनाम छोटे किसानों, मज़दूरों और सर्वहारा वर्ग के साझा हित

(पेज 7 से आगे)

के साथ देखा जाये तो यह बात भी स्पष्ट है कि सीमान्त व छोटे किसान के लिए सिर्फ कृषि पर निर्भर रहकर अपनी आजीविका तक कमा पाना खासा मुश्किल काम है, इसीलिए परिवार के किसी-न-किसी सदस्य को ग़ैर-कृषि व्यवसाय या नौकरी-चाकरी में खुद को लगाना पड़ता है। गाँव-देहात में खेती के बारे में पहले कहा जाता था कि 'कुँए की माटी कुँए पै ए लाग ज्याया करै' पर अब कहा जाता है कि 'एकली खेती तै तो भूखा ए मरणा सै'। एक हालिया सर्वे के अनुसार, पक्का रोजगार मिलने की एवज़ में ग़रीब किसानों का 61 प्रतिशत हिस्सा खुशी-खुशी खेती छोड़ने के लिए तैयार बैठा है! दूसरे पहलू से यदि देखा जाये तो आमतौर पर सीमान्त और छोटा किसान जितनी कृषि पैदावार मण्डी में बेचता है उससे कहीं ज़्यादा साल-भर में ख़रीद लेता है। जैसे एक छोटा और सीमान्त किसान गेहूँ, सरसों, बाजरा, धान जैसी फ़सलों का गुजारे लायक रखने के बाद एक हिस्सा मण्डी में बेच भले ही ले, किन्तु उसे साल-भर अन्य कृषि उत्पाद जैसे दालें, चीनी, चावल, पत्ती, तेल, गुड़, तम्बाकू, फल-सब्ज़ी, पशुओं के लिए खल-बिनोला इत्यादि से लेकर वे उत्पाद जिनमें कच्चे माल के तौर पर कृषि उत्पादों का इस्तेमाल होता है ख़रीदने ही पड़ेंगे। कहना नहीं होगा कि यदि फ़सलों के दाम लागत से 50 प्रतिशत अधिक तय होते हैं तो केवल वे उन्हीं फ़सलों के तो होने से रहे जिन्हें छोटी किसानों का 85 प्रतिशत हिस्सा मण्डी तक पहुँचाता है, बल्कि ये बढ़े हुए "लाभकारी" दाम तो सभी फ़सलों पर ही लागू होंगे। अब यह सवाल उठना लाज़िमी है कि फ़सलों के लाभकारी दाम बढ़ाने की माँग किसके हितों में जाती है। निश्चय ही महँगाई में सहायक भूमिका निभाने वाली यह माँग खेत मज़दूरों, औद्योगिक मज़दूरों और सर्वहारा वर्ग के खिलाफ़ है ही, किन्तु असल में यह खुद ग़रीब किसानों के हितों के भी खिलाफ़ जाती है। यह अनायास ही नहीं है कि कांग्रेस-नीत 'यूपीए' सरकार के शासन काल में जब समर्थन मूल्यों में तुलनात्मक रूप से वृद्धि की गयी थी

तब बदले में बेहिसाब बढ़ी महँगाई ने ग़रीब आबादी की कमर तोड़ने का ही काम किया था। और वहीं दूसरी तरफ़ 2003 से 2013 के 10 वर्षों में कृषि उत्पाद में 13 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी दर्ज हुई, किन्तु इसी दौरान किसानों पर क्रूर 24 प्रतिशत बढ़ गया।

खेती किसानों में लागत मूल्य कम करने की माँग को देखा जाये तो पहली बात तो यही स्पष्ट है कि धनी और ग़रीब किसान दोनों का ही औसत खर्च यानी कि लागत अलग-अलग आती है। दूसरा लागत मूल्य का एक महत्वपूर्ण हिस्सा 'मज़दूरी' भी होती है। धनी किसान और एग्री बिज़नेस कम्पनियाँ मज़दूरों की श्रम शक्ति का सीधे इस्तेमाल करती हैं और कृषि मशीनरी निर्माण में लगी श्रमिक आबादी भी श्रमशक्ति बेचकर ही ज़िन्दा रहती है। राजनीतिक अर्थशास्त्र का क-ख-ग जानने वाले के लिए भी इस चीज़ को समझना कोई मुश्किल नहीं है कि कृषि की लागत क्रीमतों को कम तभी किया जा सकता है जब कृषि की आगत लागतों ('इनपुट कॉस्ट') को कम किया जाये। और आमतौर पर कम यह तभी हो सकती है जब कृषि व सम्बन्धित उद्यमों में लगे श्रमिकों की या तो मज़दूरी घटायी जाये, या काम के घण्टे बढ़ाये जायें या फिर श्रम की सघनता बढ़ायी जाये। सरकारों से साँठ-गाँठ करके कृषि क्षेत्र में लगी खाद-बीज की व एग्री बिज़नेस और बैंक-बीमा कम्पनियाँ खुद ही धनी किसानों के पूँजी निवेश का एक माध्यम हैं। निश्चय ही सरकारें इनकी लूट और अन्धेरागदी पर कोई आँच नहीं आने देंगी। यह बात भी स्पष्ट ही है कि कृषि मशीनों का ज़्यादा इस्तेमाल तो धनी किसान यानी कुलक फ़ार्मर ही करते हैं, सीमान्त और छोटे किसान तो कृषि उपकरणों और मशीनरी को भाड़े-किराये पर ही लेते हैं। इसलिए लागत मूल्यों में कमी की माँग भी समाज के किस तबक़े के पक्ष में जायेगी और किसके विरुद्ध यह स्पष्ट है। आज के समय में खासतौर पर लाभकारी मूल्य बढ़ाने और लागत मूल्य घटाने की माँगों के समर्थन में विपक्षी पार्टियाँ (केवल तभी जब वे विपक्ष में हों), चुनावी तथा संशोधनवादी पार्टियों से जुड़े किसान

संगठन, एनजीओ की राजनीति करने वाले, किसान जातियों में वोट बैंक तलाशने वाले (और फिर चुनाव के समय मोटी थैली की तरफ़ लुढ़क जाने वाले) क्षेत्रीय गुट, भारत में क्रान्ति की जनवादी और नवजनवादी मंज़िल मानने वाले वामपन्थी संगठन और 'अहो ग्राम्य जीवन' बोलकर रुदालियों की भूमिका में आ जाने वाले (और शहरों में रहकर मोटी तनख्वाहें प्राप्त करके ऐश्वर्य के तमाम साधनों का आनन्द लेने वाले) बुद्धिजीवी लगभग एकजुट हैं! किसान आन्दोलन की मौजूदा स्थिति और इसकी माँगों का वर्ग-चरित्र निश्चय ही समाज के प्रबुद्ध, चिन्तनशील और प्रगतिशील तत्त्वों को सोचने के लिए विवश करते हैं।

आज के दौर में भूमि सुधारों की प्रासंगिकता और भूमिहीनों व ग़रीब किसानों के लिए सही राजनीतिक नारे का सवाल

क्रान्तिकारी तरीक़े से भूमि सुधार की माँग बेशक एक दौर की प्रगतिशील माँग हो सकती थी। किन्तु बदली हुई परिस्थितियों में अन्तर्विरोध पलट जाया करते हैं। जैसा कि लेनिन ने भूमि सम्बन्धों में पूँजीवादी रूपान्तरण के दो रास्ते बताये थे; एक था "अमेरिकी रास्ता" जिसमें प्रगतिशील बुर्जुआजी या पूँजीपति वर्ग नेतृत्वकारी भूमिका में रहकर अन्य वर्गों को साथ लेकर नीचे से क्रान्तिकारी बदलाव के द्वारा सामन्ती सम्बन्धों को एक झटके में उखाड़कर पूँजीवादी भूमि सम्बन्धों को लागू कर देता है। दूसरा है "प्रशियाई रास्ता" जिसमें पूँजीपति वर्ग पहले सत्ता पर क़ाबिज़ होता है और फिर धीरे-धीरे कृषि में पूँजीवादी सम्बन्धों को क़ायम करता है। निश्चय ही दूसरे वाला रास्ता अधिक लम्बा, पीड़ादायी और विभिन्न सामन्ती मूल्यों-मान्यताओं को साथ घसीटता हुआ आगे बढ़ता है। आज़ादी से पहले औपनिवेशिक शासक वर्ग ने देशी सामन्त वर्ग की मदद से कृषि में मौटे तौर पर ज़मींदारी, रैयतवाड़ी और महालवाड़ी भूमि सम्बन्धों को लागू किया था, जिनकी अपनी-अपनी विशिष्टताएँ थीं। भारत के पूँजीपति वर्ग ने समझोते-दबाव-समझोते की नीतियों पर चलते हुए सत्ता हथियाई। फिर धीरे-धीरे

भूमि सम्बन्धों के पूँजीवादी रूपान्तरण का रास्ता साफ़ किया। सामन्ती तत्त्वों को वर्ग रूपान्तरण करने और खुद को पूँजीवादी कुलक फ़ार्मरों में तब्दील करने का पूरा मौक़ा दिया गया और उन्हें सत्ता का भागीदार बनाया गया। कृषि में "प्रशियन रास्ते" से होने वाला पूँजीवादी रूपान्तरण ऐसे ही होता है। उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादन शक्तियों के बदले हुए अन्तर्विरोधों के कारण क्रान्ति की मंज़िल भी बदल जाती है। सूत्रीकरण और सिद्धान्त पुराने पड़ जाते हैं और सामाजिक यथार्थ आगे बढ़ जाता है। इसीलिए बदली हुई परिस्थितियों को समझकर व्यवहार के अनुरूप ही सिद्धान्त विकसित किये जाते हैं। जनवादी और नवजनवादी क्रान्ति के रास्ते पर 1960 के दशक में ही सवाल खड़े करने के पर्याप्त तर्क मौजूद थे, किन्तु उसके बाद 1980 का दशक आते-आते तो भारतीय अर्थव्यवस्था में पूँजीवादी विकास को बड़ी ही आसानी से रेखांकित किया जा सकता था। उदारीकरण-निजीकरण के पिछले 27 सालों के दौरान जिस द्रुत गति से भारतीय समाज की नस-नस और पौर-पौर में पूँजी की घुसपैठ हुई है, इसे कोई राजनीतिक रूप से मोतिबिन्द का शिकार ही नकार सकता है। पहली बात तो अब ज़मीन है भी कितनी जिसके वितरण की बात की जाती है, दूसरा जो 85 प्रतिशत सीमान्त और छोटी किसानों तबाही और बर्बादी झेल रही है, उसके हालात क्या सच्चाई से रूबरू कराने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। यह वास्तविकता है कि पूँजी के अभाव में तथा बड़ी पूँजी के सामने लाचार ग़रीब किसान आबादी को अपनी जगह-ज़मीन से उजड़कर फिर से भूमिहीन की श्रेणी में आने में ज़्यादा वक्रत नहीं लगेगा! ज़मीन के छोटे-से टुकड़े की भूख पैदा करना निश्चय ही आज एक प्रतिगामी क्रम होगा। आज के हालात में समाजवादी क्रान्ति के द्वारा ही मेहनतकश वर्ग को पूँजीवादी गुलामी से आज़ादी मिल सकती है। उसके बाद ज़मीन का राष्ट्रीयकरण करके बड़े पैमाने की सहकारी, सामूहिक और राज्य नियन्त्रित कृषि के द्वारा ही खेती से जुड़े मेहनतकश वर्ग के दिन फिर सकते हैं।

ग़रीब किसानों के दूरगामी हित किसमें हैं?

ग़रीब किसानों के असल हित आज पूरी तरह से मज़दूर और सर्वहारा वर्ग के हितों के साथ जुड़े हुए हैं। एक ऐसी समाज व्यवस्था ही उन्हें आज के दुखों से छुटकारा दिला सकती है, जिसमें उत्पादन के साधनों पर मेहनतकशों का नियन्त्रण हो तथा उत्पादन समाज की ज़रूरतों को ध्यान में रखकर हो, न की निजी मुनाफ़े को केन्द्र में रखकर। छोटा लगने वाला कोई भी रास्ता मंज़िल तक पहुँचने की दूरी को और भी बढ़ा सकता है। इसलिए तर्क के आधार पर सोचा जाना चाहिए और अपने सही वर्ग हितों की पहचान की जानी चाहिए। बेरोज़गारी, बढ़ती महँगाई, सबके लिए शिक्षा, चिकित्सा सुविधा, लूट, दमन शोषण आदि वे मुद्दे होंगे, जिनके आधार पर व्यापक जनता को एकजुट किया जा सकता है। जायज़ माँगों के लिए एकजुट संघर्ष की प्रक्रिया में ही आपसी भाईचारा और एकता और भी मज़बूत होंगे। 1917 से 1956 के सोवियत संघ और 1949 से 1976 के चीनी समाजों में मेहनतकाश जनता ने शानदार प्रयोग किये हैं। इन प्रयोगों के दौरान मेहनत करने वाले मज़दूरों और किसानों के जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन आये थे। हमें वहाँ के प्रयोगों के बारे में ज़रूर जानना चाहिए। आज भले ही समाजवादी समाजों पर कीचड़ उछाला जाता हो, उन महान प्रयोगों की "असफलता" का कितना ही ढिंढोरा पीटा जाता हो, किन्तु मृत्युशैया पर पड़ा कराह रहा पूँजीवाद आम जनता को युद्ध, तबाही, ग़रीबी, भुखमरी देकर खुद कितना सफल हुआ है, यह सबके सामने है। इतिहास-बोध बताता है कि नयी समाज-व्यवस्था की वाहक क्रान्तियाँ पहली बार में ही सफल नहीं हो गयीं, खुद पूँजीवादी क्रान्तियों पर भी यह बात लागू होती है। इसलिए कहा जा सकता है कि ग़रीब किसान आबादी को अपने रोज-रोज़ के संघर्षों को लड़ते हुए भी दूरगामी तौर पर समाजवाद को अपना लक्ष्य मानना चाहिए।

चुप रहना छोड़ दो! जाति की बेड़ियों को तोड़ दो!

30 सितम्बर की रात पीयूष परमार व उनके दो भाइयों को गुजरात के गांधीनगर ज़िले में मूँछे रखने पर बुरी तरह मारा-पीटा गया। इस घटना को दो दिन भी नहीं बीते थे कि 'आणन्द ज़िले में एक दलित नौजवान जयेश सोलंकी को गरबा देखने पर जान से मार दिया गया।' मारने वाले हत्यारे पटेल जाति के खाले-पीते घर से आते हैं। पुलिस के अनुसार मारने वालों की जयेश सोलंकी से कोई व्यक्तिगत पहचान या दुश्मनी नहीं थी, पर वे लगातार मारते हुए ये "बोल रहे थे कि दलितों को गरबा देखने का अधिकार नहीं है।" इन दोनों ही घटनाओं से स्पष्ट हो रहा है कि जातिवादी मानसिकता गहराई से हमारे समाज में पैठी हुई है व आज तमाम

मध्य जातियों के अमीर जातिवादी वर्चस्व के बर्बरतम रूपों का प्रदर्शन कर रहे हैं। इन दोनों ही घटनाओं में पीड़ित बेहद ग़रीब थे (मृत नौजवान जयेश एक दिहाड़ी मज़दूर था)। यह घटना एक बार फिर दिखा रही है कि सर्वर्णवादी वर्चस्व के बर्बरतम रूपों का सामना ग़रीब, मेहनतकश दलितों को ही करना पड़ता है। हालाँकि जातिगत अपमान का सामना तमाम दलित नौकरशाहों, नेताओं और अन्य अमीर दलितों को भी करना पड़ता है, पर इस तरह की जातिगत उत्पीड़न की बर्बरतम घटनाएँ ज़्यादातर मेहनतकश दलितों के खिलाफ़ ही होती हैं। जातिगत उत्पीड़न के बर्बरतम रूपों का सामना 100 में से 99 केस में ग़रीब मेहनतकश दलितों को ही

करना पड़ता है। पिछले 10-12 सालों में हरियाणा के मिर्चपुर, गोहाणा, भगाणा से लेकर कैथल में दलित उत्पीड़न की कई घटनाएँ ग़रीब मेहनतकश दलित आबादी के साथ ही हुई हैं। असल में सरकार चाहे किसी पार्टी की हो, दलित उत्पीड़न की घटनाएँ लगातार जारी रही हैं। पिछले साढ़े तीन सालों में गुजरात, हरियाणा, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश से लेकर पूरे देश में दलित उत्पीड़न की घटनाएँ जिस क्रम में बढ़ी हैं, उससे भाजपा-संघ सरकार की "सामाजिक समरसता" की नौटंकी का पर्दाफ़ाश हो गया है। सहारनपुर में सवर्णों की बर्बर दबंगई का विरोध करने वाले जुझारू दलित नेता चन्द्रशेखर आज़ाद 'रावण' को

फ़र्जी मुक़दमों में जेल भेजा गया, जेल में उनको बुरी तरह टॉर्चर किया गया, इलाज तक नहीं कराया गया और जब अदालत ने पुलिस को फटकार लगाते हुए उन्हें ज़मानत पर रिहा करने का आदेश दिया तो प्रदेश की योगी सरकार के आदेश पर उन पर रासुका लगाकर दुबारा जेल में डाल दिया गया। दूसरी ओर, दलितों की पूरी बस्ती को जलाकर राख कर देने वाले और बुजुर्गों, औरतों, बच्चों तक पर हिंसा का नृशंस ताण्डव करने वाले सवर्णों के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की गयी है और उन्हें बचाने के लिए सारे नियम-क़ानून ताक पर धर दिये गये हैं।

ऐसे में आज जातीय उत्पीड़न की तमाम घटनाओं के खिलाफ़ मेहनतकश

जनता की वर्ग एकजुटता क़ायम करनी होगी, जुझारू प्रतिरोध के लिए सड़कों पर उतरना होगा, जातीय पहचानों को उभारकर वास्तव में हमें बाँटने वाली अस्मितावादी राजनीति को किनारे करना होगा, व्यवहारवादी आवेदनबाज़ी की राजनीति का भण्डाफोड़ करना होगा और रोजगार, महँगाई, शिक्षा, आवास, चिकित्सा और व्यापक मेहनतकश जनता की ज़िन्दगी से जुड़े हर सवाल पर पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष करना होगा क्योंकि वर्ग एकजुटता पर आधारित ऐसे ही संघर्षों के जरिये पूँजीवादी ब्राह्मणवाद और जातिवाद को भी फ़ैसलाकुन शिकस्त दी जा सकती है।

वर्तमान आर्थिक संकट और मार्क्स की 'पूँजी'

— मुकेश असीम

पिछले कई सालों से पूरे पूँजीवादी विश्व के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था भी गहन संकट से गुजर रही है। आम जनता की घटती आय से बाज़ार में सिकुड़ती माँग से उद्योगों में नया निवेश नहीं हो रहा, पहले स्थापित उद्योग दिवालिया हो रहे हैं; बड़े पैमाने पर श्रमिक रोज़गार से वंचित हुए हैं, नये रोज़गार सृजित नहीं हो रहे; बेरोज़गारी भयंकर रूप से बढ़ी है, 16-25 साल के युवाओं में 27% न शिक्षा में हैं, न किसी तरह के प्रशिक्षण में, न ही किसी रोज़गार में; ग़रीब छोटे किसान और खेत मज़दूर आत्महत्याओं तक के लिए मजबूर हो रहे हैं। पर रोज़गार से लेकर आर्थिक संकट के तमाम पहलुओं पर बात करते हुए अधिकांश लोग आमतौर पर बीजेपी-कांग्रेस की नीतियों, नोटबन्दी, जीएसटी, आदि को ज़िम्मेदार ठहराकर रुक जाते हैं। यह बात सही है कि इन नीतियों ने इस संकट को गम्भीर बनाने में भूमिका निभायी है। पर आखिर ये पार्टियाँ ऐसी नीतियाँ बनाती क्यों हैं? क्या ये कोई और अलग नतीजा देने वाली नीति भी बना सकते हैं? क्या सरकार बदलने मात्र से ये नीतियाँ बदली जा सकती हैं? हमें समझना होगा कि हम वर्ग विभाजित समाज में रहते हैं, जिसमें कोई भी राजनीतिक दल समाज के किसी वर्ग का प्रतिनिधि होता है। बीजेपी कांग्रेस दोनों भारत के इजारेदार पूँजीपति वर्ग के प्रतिनिधि हैं और उसके हितों की हिफ़ाज़त और उन्हें आगे बढ़ाना उनका मुख्य काम है। इसलिए ये पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के उत्पादन सम्बन्धों के विपरीत कोई नीति नहीं बना सकते। ये उत्पादन सम्बन्ध क्या हैं और आज की संकटपूर्ण स्थितियाँ कैसे इनका नतीजा हैं? इसे समझने के लिए विश्व के श्रमिक वर्ग के महान शिक्षक कार्ल मार्क्स ने 150 वर्ष पहले प्रकाशित अपनी पुस्तक 'पूँजी' में जो बताया था, उसका एक छोटा और सरलीकृत अंश समझते हैं।

पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था

पूँजीपति पूँजी से उत्पादन के निजीव साधन - ज़मीन-मकान, मशीनें-औज़ार, कच्चा माल - जुटाता है। फिर उत्पादन की सजीव ताक़त अर्थात् मानव श्रम के लिए श्रमिक से उसकी श्रम शक्ति ख़रीदता है। श्रम शक्ति लगने से पैदा उत्पाद का मूल्य उसे बनाने में प्रयोग हुए अवयवों के कुल मूल्य के मुकाबले ज्यादा होता है। इस बड़े हुए मूल्य में से श्रम शक्ति का मूल्य निकाल देने पर बचने वाला अधिशेष या अतिरिक्त मूल्य ही पूँजीपति का मुनाफ़ा होता है अर्थात् श्रमिक की श्रम शक्ति लगने से पैदा वह मूल्य जो श्रमिक को प्राप्त नहीं हुआ, बल्कि पूँजीपति को मिला। यह मुनाफ़ा ही मूल पूँजी में जुड़ता रहता है और पूँजीपतियों की दौलत को बढ़ाता जाता है। इस निरन्तर बढ़ती पूँजी से पूँजीपति निरन्तर और अधिक उत्पादन करता जाता है। लेकिन सिर्फ़ एक ही नहीं बल्कि सभी पूँजीपति ऐसा ही करते हैं। इसलिए प्रतियोगिता में दूसरों

को पछाड़ने हेतु हर पूँजीपति हमेशा नयी तकनीक लाने का प्रयत्न करता है, ताकि कम श्रम से अधिक उत्पादन मुमकिन हो, उसे अधिक अधिशेष मूल्य या मुनाफ़ा प्राप्त हो, जिससे वह बाज़ार में अपने माल की कीमत कम कर होड़ में अन्य पूँजीपतियों को ठिकाने लगा सके। इस तरह उत्पादन के लिए प्रयुक्त कुल पूँजी में श्रम शक्ति की तुलनात्मक मात्रा कम होकर स्थाई पूँजी का अनुपात बढ़ता जाता है अर्थात् उतनी ही मात्रा में उत्पादन के लिए आवश्यक श्रमिकों की संख्या कम होती जाती है। अगर उत्पादन वृद्धि की असीमित सम्भावना हो तो इससे कोई समस्या नहीं होती। पर पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन बाज़ार में

के बढ़ते जाने पर कुछ पूँजीपतियों के दिवालिया होने और उनके उद्योगों के बन्द होने से हुए उत्पादन की शक्तियों के विनाश में ही इस संकट का अस्थायी समाधान होता है, जिससे कमज़ोर पूँजीपति प्रतिद्वन्द्विता से बाहर हो जाते हैं या उन्हें बचे पूँजीपतियों द्वारा ख़रीद कर अपना प्रबन्धक बना लिया जाता है, उनका उत्पादन बाज़ार से निकल जाता है। इससे बचे हुए पूँजीपति कुछ समय के लिए सुरक्षित हो जाते हैं तथा और बड़े हो जाते हैं। लेकिन फिर से पूँजी और उत्पादन बढ़ाने की होड़ चालू हो जाती है तथा नतीजे में कुछ वक़्त बाद पहले से भी बड़ा संकट सामने आ प्रस्तुत होता है। कई मौकों पर तो युद्धों का विनाश भी

जीडीपी का कुल 7.8% मुनाफ़े तक पहुँच गयी थी, 2008 के आर्थिक संकट के बाद से घटने लगी है और वित्त वर्ष 2016 में कम होकर 3.9% ही थी। इस वर्ष इसके और घटकर जीडीपी का 3% ही रह जाने का अनुमान है। ध्यान दें कि यहाँ मुनाफ़े की कुल रक़म की नहीं, बल्कि मुनाफ़े की दर की बात हो रही है। शेयर बाज़ार में सूचीबद्ध कम्पनियों की कुल पूँजी पर प्राप्त रिटर्न की दर से भी इसकी पुष्टि होती है। इस साल के शुरू में 3 अप्रैल को विश्लेषकों के अनुसार मुम्बई स्टॉक एक्सचेंज में सूचीबद्ध 50 कम्पनियों के शेयरों पर इस वित्तीय वर्ष में 1719 रुपये प्रति शेयर आय का अनुमान था, लेकिन जुलाई आते-आते

लेकिन इस प्रक्रिया में इन पर क़र्ज़ की मात्रा का सिर्फ़ 10% ही वसूल हो पा रहा है। इससे बैंकिंग सिस्टम को हो रहे घाटे की पूर्ति के लिए सरकार पहले ही 56 हजार करोड़ रुपये दे चुकी है तथा अब 2 लाख 11 हजार करोड़ रुपये देने का ऐलान किया गया है। यह सब अन्त में बड़े टैक्सों, बढ़ी कीमतों, तरह-तरह के शुल्कों-सेस, बैंकों में जमा पर घटते ब्याज़ और बढ़ते चार्जों, आदि के द्वारा मेहनतकश जनता से ही वसूल किया जाना है।

नोटबन्दी, केशलेस, डिजिटल, जीएसटी, आदि तमाम नीतियाँ भी छोटे-मध्यम उद्योगों की लागत को बढ़ाकर उन्हें अलाभकारी बनाकर बाज़ार से बाहर करने की प्रक्रिया को ही तेज़ कर रही हैं। बड़े पैमाने पर ऐसे उद्योग तेज़ी से बन्द हो रहे हैं और बाज़ार में इनका हिस्सा बड़े उद्योगों के पास चला जा रहा है। नोटबन्दी के बाद से 50 करोड़ रुपये से कम की सालाना बिक्री वाले इन उद्योगों की बिक्री और मुनाफ़े में लगभग 50% तक की कमी आयी है, जबकि 1000 करोड़ से ज़्यादा बिक्री वाले उद्योगों की बिक्री में पिछले कई सालों के मुकाबले अधिक वृद्धि हुई है। इससे मार्क्स द्वारा बताये गये नियम के अनुसार ही इजारेदारी अर्थात् अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में कुछ बड़े पूँजीपतियों द्वारा अपने प्रतिद्वन्द्वियों को बाहर कर एकाधिकार क़ायम करने की प्रवृत्ति-प्रक्रिया में तेज़ी आयी है। हालाँकि इसका नतीजा भी अन्त में बढ़ती बेरोज़गारी के रूप में श्रमिकों को ही झेलना है।

फिर उपाय क्या है?

उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व और मुनाफ़े के लिए उत्पादन की पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में इन समस्याओं का कोई समाधान सम्भव नहीं है। सिर्फ़ उत्पादन के साधनों पर निजी सम्पत्ति को समाप्त कर सामूहिक स्वामित्व में सबके द्वारा श्रम और सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन की समाजवादी व्यवस्था ही उत्पादन की शक्तियों के और ज़्यादा विकास का रास्ता खोल सकती है, क्योंकि तब सभी के लिए भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन, आदि हेतु उत्पादन को इतना बढ़ाने की आवश्यकता होगी कि समस्त वैज्ञानिक तकनीक के बाद भी सबके लिए काम न सिर्फ़ उपलब्ध हो बल्कि अनिवार्य भी। साथ ही सबके लिए काम के घण्टे कम भी किये जा सकेंगे जिससे संस्कृति, साहित्य, कला जैसी चीज़ें भी बस खाये-अघाये मालिक वर्ग की बपौती नहीं रहकर पूरे मानव समाज की सामूहिक उपलब्धि बन सकें। तभी समाज के प्रत्येक व्यक्ति की असली स्वतन्त्रता सम्भव होगी और उसका सम्पूर्ण विकास भी मुमकिन होगा।



प्रसिद्ध कार्टूनिस्ट राजेन्द्र धोड़पकर का कार्टून, सत्याग्रह डॉट कॉम से साभार

विक्रय कर मुनाफ़ा कमाने हेतु होता है और बिक्री बाज़ार में ख़रीदारों की माँग अर्थात् क्रय क्षमता से ज़्यादा नहीं हो सकती। इसलिए सब पूँजीपतियों द्वारा उत्पादन बढ़ाते जाने, श्रमिकों की तादाद को कम करते जाने से कृत्रिम अति उत्पादन का संकट पैदा होता रहता है। इसे कृत्रिम अति उत्पादन इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यह वास्तव में समाज की आवश्यकताओं से अधिक नहीं है, बल्कि इसलिए क्योंकि ज़रूरतें होते हुए भी अधिकांश लोग उत्पादित मालों को ख़रीदने की क्षमता नहीं रखते। इसका दूसरा नतीजा यह होता है कि मशीनों, तकनीक में लगी स्थाई पूँजी की मात्रा बढ़ते जाने से पूँजी पर मुनाफ़े की दर घटने लगती है। उदाहरण के तौर पर अगर 100 रुपये की पूँजी पर 20 रुपया मुनाफ़ा था और पूँजी को 200 रुपये करने पर मुनाफ़ा 30 रुपये हो जाये तो कुल मुनाफ़े की रक़म तो बढ़ी पर पूँजी के प्रतिशत के तौर पर यह 20% से घटकर 15% ही रह गया।

पूँजीवाद का संकट

ऊपर बताए गये इन दोनों नतीजों - बाज़ार में आ रहे उत्पादों का न बिक पाना और पूँजी की मात्रा पर मुनाफ़े की दर का कम होना - की वजह से पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में तीव्र संकट पैदा होता है। अपने माल को बेचने और मुनाफ़े को बढ़ाने की पूँजीपतियों की आपसी स्पर्धा गलाकाट बन जाती है। इस संकट

इस संकटों के अस्थायी समाधान के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अब आज की भारतीय अर्थव्यवस्था में मार्क्स द्वारा बताये गये इस नियम का प्रभाव देखते हैं। पिछले 30 साल में भारतीय अर्थव्यवस्था में नयी तकनीक और स्वचालित मशीनों के प्रयोग से पूँजी निवेश स्तर का लगभग 14-15% सालाना की दर से बढ़ा है, जबकि श्रमिकों की संख्या मात्र 1.5% सालाना की दर से बढ़ी है। अब तो श्रमिकों की संख्या बढ़ना बन्द होकर घटने की स्थिति आ गयी है। नतीजे सामने हैं, पिछले दो साल से रिज़र्व बैंक बता रहा है कि अति-उत्पादन (ज़रूरतों से ज़्यादा नहीं, हमारे ख़रीदने की शक्ति से ज़्यादा!) और बाज़ार में घटी माँग की वजह से उद्योग स्थापित क्षमता के 70-72% पर ही काम कर पा रहे हैं। पिछले 1 वर्ष में तो रोज़गार 20 लाख कम हुए हैं। 30 साल पहले जीडीपी 1% बढ़ती थी तो रोज़गार में भी 0.9% इज़ाफ़ा होता था। लेकिन अब 1% जीडीपी बढ़ने पर मात्र 0.1% रोज़गार ही बढ़ते हैं। स्पष्ट है कि उद्योग में लगी कुल पूँजी के जैविक संघटन में आनुपातिक रूप से श्रम की मात्रा कम होकर स्थाई पूँजी की मात्रा बढ़ती जा रही है।

किन्तु उद्योगों में स्थाई पूँजी की मात्रा बढ़ते जाने से मार्क्स द्वारा बतायी गयी दूसरी बात भी वास्तविकता में सामने आ रही है। कुल पूँजी पर मुनाफ़े की दर जो 2008 तक बढ़ रही थी और

यह अनुमान कम होकर मात्र 1632 रुपये ही रह गया।

इस प्रकार मार्क्स द्वारा 150 वर्ष पहले पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था के नियमों के विश्लेषण के आधार पर किया गया आकलन भारतीय अर्थव्यवस्था के आज के आर्थिक संकट पर पूरी तरह सटीक बैठता है। बीजेपी हो या कांग्रेस किसी के भी द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था के इन मूल नियमों के विपरीत जा पाना नामुमकिन है। हाँ, नीतियों के नाम, ऊपरी स्वरूप, आदि ज़रूर भिन्न हो सकते हैं। आइए, देखते हैं कि कैसे ये नीतियाँ भी मार्क्स के विश्लेषण के अनुसार ही हैं।

जैसा हमने ऊपर चर्चा की, इस संकट का नतीजा होता है पूँजीपतियों के बीच गलाकाट होड़ और कुछ पूँजीपतियों का दिवालिया होकर उनके उद्योगों का बन्द हो जाना या बचे हुए पूँजीपतियों द्वारा ख़रीद लिया जाना। पिछले सालों में बैंकों के कॉरपोरेट क़र्ज़ों में बढ़ते एनपीए या क़र्ज़ डूब जाना। क्षमता के कम उपयोग और बिक्री की दिक्कत से कॉरपोरेट क्षेत्र का एक बड़ा हिस्सा आर्थिक संकट का सामना करते हुए अपने क़र्ज़ की किश्त छोड़िए, ब्याज़ तक चुकाने में असमर्थ हो चुका है और लगभग 14 लाख करोड़ रुपये के क़र्ज़ संकट ग्रस्त हैं। इस संकट से निकलने के लिए सरकार एक दिवालिया क़ानून भी लायी है, जिससे या इनकी सम्पत्तियों को बेचकर इन्हें बन्द किया जा सके या दूसरे पूँजीपतियों को बेच दिया जाये।

शोषित-उत्पीड़ित मानवता को मुक्ति की राह दिखाने वाली महान अक्टूबर क्रान्ति के 100 वर्ष पूरे होने के अवसर पर

(पेज 1 से आगे)

दुनिया के इतिहास में पहली बार मार्क्सवाद की किताबों में लिखे सिद्धान्त ठोस सच्चाई बनकर ज़मीन पर उतरे। उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व का खात्मा कर दिया गया। लेकिन विभिन्न रूपों में असमानताएँ अभी भी मौजूद थीं। जैसाकि लेनिन ने इंगित किया था, छोटे पैमाने के निजी उत्पादन से और निम्न पूँजीवादी परिवेश में लगातार पैदा होने वाले नये पूँजीवादी तत्त्वों से, समाज में अब भी मौजूद बुर्जुआ अधिकारों से, अपने खोये हुए स्वर्ग की प्राप्ति के लिए पूरा जोर लगा रहे सत्ताच्युत शोषकों से और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी और घुसपैठ के कारण पूँजीवादी पुनर्स्थापना का खतरा बना हुआ था। इन समस्याओं से जूझते हुए पहली सर्वहारा सत्ता को समाजवादी संक्रमण की दीर्घकालिक अवधि से गुजरते हुए कम्युनिज्म की ओर यात्रा करनी थी। नवोदित समाजवादी सत्ता को फ्रासीवाद के खतरे का मुक़ाबला करते हुए समाजवादी संक्रमण के इन गहन-गम्भीर प्रश्नों से जूझना था। निश्चय ही इसमें कुछ गलतियाँ हुईं जिनमें मूल और मुख्य गलती यह थी कि समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष की प्रकृति और उसके संचालन के तौर-तरीकों को समझ पाने में कुछ समय तक सोवियत संघ का नेतृत्व विफल रहा। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध में फ्रासीवाद को परास्त करने के बाद स्टालिन ने इस दिशा में महत्वपूर्ण क़दम उठाये। समाजवादी समाज में किस प्रकार अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन और विनिमय विभिन्न रूपों में जारी रहता है और माल उत्पादन की अर्थव्यवस्था मौजूद रहती है इसका उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया था और इन समस्याओं पर चिन्तन की शुरुआत कर चुके थे। लेकिन यह प्रक्रिया आगे बढ़ती इसके पहले ही स्टालिन की मृत्यु हो गयी।

चौथे-पाँचवें दशक के वैचारिक अवरोध और साम्राज्यवाद की सम्पूर्ण आर्थिक-राजनीतिक-सामरिक शक्ति के विरुद्ध संघर्ष में पूरी पार्टी के सन्नद्ध रहने का लाभ उठाकर सोवियत संघ के भीतर जिन नये बुर्जुआ तत्त्वों ने राज्य, पार्टी और सामाजिक संरचना के भीतर अपने आधारों को पर्याप्त मज़बूत बना लिया था, वे स्टालिन की मृत्यु के बाद खुलकर सामने आ गये और सोवियत संघ में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना करने में कामयाब हो गये। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व समाजवादी मुखौटे वाले नये बुर्जुआ अधिनायकत्व में तब्दील हो गया। उत्पादन के साधनों पर समाजवादी स्वामित्व का वैधिक विभ्रम बना हुआ था, पर सारतः उन पर पार्टी और राज्य के नौकरशाहों का नियन्त्रण था जो मजदूरों के शोषण से उगाहे गये अतिरिक्त मूल्य का इस्तेमाल अपनी अय्याशी और सोवियत संघ को एक सामाजिक साम्राज्यवादी देश में तब्दील

कर देने के लिए करते थे।

यही वह नक़ली समाजवाद, यानी राजकीय पूँजीवादी तन्त्र था जो अपने आन्तरिक अन्तरविरोधों के चलते नवें दशक में ग्लासिनोस्त-पेरैखोइका से होते हुए विघटित हो गया। सोवियत संघ के विघटन के साथ ही पश्चिमी पूँजीवाद के तिकड़मों-षड्यन्त्रों और चौतरफ़ा कोशिशों के चलते पूर्वी यूरोप की भूतपूर्व समाजवादी व्यवस्थाएँ भी ढह गयीं और पश्चिमी पूँजी ने बिना देर किये इन सभी देशों को रौंद डाला।

•

आधुनिक विश्व इतिहास को गढ़ने में जिन दो क्रान्तियों ने सर्वाधिक मूलभूत भूमिका निभायी, वे थीं 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति और 1917 की अक्टूबर क्रान्ति। पूँजीवाद और सर्वहारा के बीच के विश्व ऐतिहासिक महासमर के पहले चक्र का पहला अहम मुक़ाम था 1871 का पेरिस कम्यून, जब पहली बार मजदूरों ने अपना राज क़ायम किया। केवल 72 दिनों तक चले मजदूरों के शासन ने समाजवाद की एक भावी तस्वीर पेश की। आने वाले मजदूर राज का एक ट्रेलर पेश करके पेरिस कम्यून विलुप्त हो गया, पर वह इतिहास पर एक अमिट छाप छोड़ गया जो दुनिया के मजदूरों और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को प्रेरित करती रही। कम्यून के सबकों के मार्क्स द्वारा किये समाहार को आगे बढ़ाते हुए लेनिन ने सर्वहारा वर्ग की संगठित और जुझारू क्रान्तिकारी पार्टी गढ़ने की अवधारणा और प्रणाली विकसित की, उसके नेतृत्व में सुविचारित और योजनाबद्ध ढंग से क्रान्ति करने का विज्ञान और सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत समाजवादी संक्रमण को आगे बढ़ाने के तरीके विकसित किये। समाजवाद की समस्याओं पर भी लेनिन ने सोचना शुरू कर दिया था। उसी कड़ी को बाद में माओ ने आगे बढ़ाया और पूँजीवादी पुनर्स्थापना रोकने का शास्त्र विकसित कर मार्क्सवादी विज्ञान को नयी ऊँचाइयों तक पहुँचाया।

अक्टूबर क्रान्ति के बाद से इतिहास की गति निरन्तर तेज़ रही और दुनिया के पैमाने पर क्रान्ति की लहर हावी रही। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद नये साम्राज्यवादी चौधरी अमेरिका के नये नेतृत्व में दुनियाभर के साम्राज्यवादियों ने समाजवादी खेमे के विरुद्ध शीतयुद्ध छेड़ रखा था। ऐसे समय में जब सोवियत संघ में संशोधनवादी सत्ता का पतन हुआ तो पूँजीवाद को एक नयी ताक़त हासिल हो गयी। विश्व पैमाने पर वर्ग-शक्ति-सन्तुलन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सोवियत संघ में समाजवाद की पराजय महज़ किसी एक देश में समाजवाद की हार नहीं थी। सोवियत संघ पूँजी के विरुद्ध विश्व ऐतिहासिक महासमर में सर्वहारा वर्ग की अग्रिम चौकी था। वहाँ नये बुर्जुआ वर्ग का सत्ता में आना मजदूर वर्ग और पूरी दुनिया की मुक्तिकामी जनता के लिए एक भारी धक्का था।

फिर भी हम ऐसा नहीं कह सकते कि ऐसा होते ही प्रतिक्रान्ति की लहर हावी हो गयी थी। सोवियत संघ में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के बाद भी चीनी क्रान्ति दुनिया की जनता के लिए ऊर्जा और प्रेरणा का स्रोत बनी रही। पचास और साठ के दशक में राष्ट्रीय मुक्ति-युद्ध उफान पर थे और नवउपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष भी दुनिया के कई देशों में विजय के करीब थे। 1960 का दशक एशिया-अफ़्रीका-लातिन अमेरिका के अधिकांश देशों से उपनिवेशवाद के खात्मे का साक्षी बना। हालाँकि साम्राज्यवाद शोषण के नये तौर-तरीके अपना रहा था। नवउपनिवेशिक तरीके भी विफल होने के बाद आर्थिक ताक़त के बूते पर लूट की नयी तरकीबें उसने ईजाद कर ली थीं, फिर भी उपनिवेशों की समाप्ति दुनिया की जनता की एक बड़ी विजय थी।

1956 के बाद खुश्रुव ने स्टालिन पर कीचड़ उछालते हुए शान्तिपूर्ण संक्रमण, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व और शान्तिपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की संशोधनवादी गन्दी हवा बहाते हुए दुनियाभर में क्रान्तिकारी संघर्षों को भटकाने और कमज़ोर करने की मुहिम शुरू की जिसने दुनिया के पैमाने पर क्रान्ति की धारा को भारी नुक़सान पहुँचाया और क्रान्तिकारी क़तरों में विभ्रम और निराशा पैदा की। ऐसे में चीन की पार्टी ने जब महान बहस की शुरुआत की तो इसने दुनियाभर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों में आशा का संचार किया। समाजवादी संक्रमण की समस्याओं पर लेनिन के चिन्तन की कड़ी को आगे बढ़ाते हुए और रूस में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के अनुभवों का समाहार करते हुए माओ त्से-तुङ ने महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का दर्शन प्रस्तुत किया और उसे व्यवहार में उतारा। उन्होंने समाजवादी संक्रमण की दीर्घकालिक प्रकृति पर जोर देते हुए अधिरचना में क्रान्ति और सतत क्रान्ति जारी रखने की ज़रूरत बतायी, सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत पूँजीवादी पथगामियों के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष और चौकसी पर जोर दिया। पूरी दुनिया में संशोधनवाद के साथ संघर्षों को इससे दिशा मिली। हर जगह संशोधनवादी पार्टियों से अलग मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टियाँ संगठित होने लगीं। लेकिन 1976 में माओ के निधन के बाद चीन में भी पूँजीवाद की पुनर्स्थापना हो गयी। यह कोई विडम्बना या समझ में न आने वाली बात नहीं थी। चीन एक पिछड़ा देश था और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की समझ बनने तक वहाँ पूँजीवादी तत्त्व अपनेआप को काफ़ी मज़बूत कर चुके थे।

पिछली शताब्दी के छठे दशक से लेकर 1976 में माओ के निधन तक क्रान्ति की धारा और प्रतिक्रान्ति की धारा एक-दूसरे से लगातार जूझती-टकराती रहीं। दुनिया के पैमाने पर ये एक-दूसरे से गुँथी-बुनी-सी चलती रहीं,

कभी क्रान्ति की धारा हावी होती थी तो कभी प्रतिक्रान्ति की। लेकिन 1976 के बाद प्रतिक्रान्ति की धारा हावी होने लगी। चीन के बाद अल्बानिया में भी समाजवादी सत्ता का पतन हो गया। जो लोग अब भी सोवियत संघ के समाजवादी होने का भ्रम पाले हुए थे, उन्हें ग्लासिनोस्त और पेरैखोइका तक समझ में आने लगा था कि यह समाजवाद नहीं है। लेकिन सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों की भूतपूर्व समाजवादी व्यवस्थाओं के पतन के बाद दुनिया की मेहनतकश जनता के बहुत बड़े हिस्से में गहरी निराशा छा गयी।

विश्व स्तर पर श्रम और पूँजी के विश्व ऐतिहासिक महासमर का पहला चक्र माओ के निधन के बाद चीन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के साथ समाप्त हो गया। इस प्रथम चक्र के अन्त में विश्व की जनता एक बार फिर वहाँ खड़ी थी, जहाँ विश्व सर्वहारा के पास अपने मुक्त क्षेत्र के आधार इलाक़े के रूप में कोई भी समाजवादी राज्य नहीं रह गया। उसके पास मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन-स्टालिन-माओ जैसा कोई मान्य अन्तरराष्ट्रीय नेता या मार्क्स-लेनिन-माओ की पार्टियों जैसी संघर्षों की आग में तपी-मँजी कोई अनुभवी पार्टी भी नहीं रही। सामयिक तौर पर यह पराजय और विपर्यय का दौर है, जब प्रतिक्रिया का अन्धकार-सा छाया हुआ है। साम्राज्यवाद आक्रामक है और पूँजी की ताक़तें पूरी दुनिया में तमाम सीमाओं को रौंदते हुए फैल रही हैं। इस दौर की तरह-तरह से व्याख्याएँ की जा रही हैं। कोई एकध्रुवीय विश्व के रूप में इसकी व्याख्या कर रहा है तो कोई अधिसाम्राज्य की बातें कर रहा है। जैसेकि साम्राज्यवाद के वर्चस्व को कोई प्रभावी चुनौती ही नहीं मिल रही है। साम्राज्यवाद की दिखायी पड़ने वाली शक्तिमत्ता के पीछे की सच्चाई तो यह है कि पूँजीवाद के बुनियादी अन्तरविरोध और भी तीखे होते जा रहे हैं। साम्राज्यवादियों के आपसी अन्तरविरोध और उनकी गलाकाटू होड़ लगातार जारी है और अब और भी तीखी होती जा रही है। नयी धुरियाँ और नये समीकरण बन रहे हैं। दूसरी ओर जनता के संघर्ष भी यहाँ-वहाँ जारी हैं। बेशक यह क्रान्ति की शक्तियों के बिखराव का दौर है। क्रान्ति की लहर पर आज प्रतिक्रान्ति की लहर हावी है। लेकिन जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, परिवर्तन का सिलसिला लगातार जारी रहता है। गतिरोध के दौर में भी प्रगति पूरी तरह कभी रुकती नहीं। जब इतिहास के चक्र को कुछ समय के लिए उल्टा घुमा दिया जाता है, तब भी इतिहास निर्मात्रा शक्तियाँ इतिहास के गर्भ में पलती रहती हैं। वर्ग-संघर्ष कभी रुकता नहीं है। आज भी नहीं रुका है। दुनिया के कोने-कोने में जनता लड़ रही है। क्रान्ति की शक्तियाँ बिखरी ज़रूर हैं पर संघर्ष बन्द नहीं हुआ है। ब्राज़ील के भूमिहीन मजदूरों का आन्दोलन, मेक्सिको में जपाटिस्टा

का आन्दोलन हो या विकसित देशों के मजदूरों के बार-बार फूट पड़ने वाले उग्र प्रदर्शन हों, सर्वहारा लगातार पूँजी के हमलों का प्रतिरोध कर रहा है। नेपाल में अनेक समस्याओं के बावजूद जनता का क्रान्तिकारी संघर्ष जारी है। भारत ही नहीं दुनिया के हर देश में शायद ही कोई ऐसा दिन होता हो, जब मेहनतकश जनता अपने अधिकारों के लिए संघर्ष में न उतरती हो। समाजवाद की पराजय का लगातार ढिंढोरा पीटने के बावजूद पूँजीपति वर्ग लगातार क्रान्तियों के भय से आक्रान्त है और बुर्जुआ मीडिया निरन्तर समाजवाद और उसके नेताओं के खिलाफ़ झूठे दुष्प्रचार में लगा रहता है। यह तो निर्विवाद है कि समाजवादी क्रान्ति का परचम आज भी धूल में लिथड़ा नहीं है।

मजदूर वर्ग को आज यह समझाने की ज़रूरत है कि कुछ क्रान्तियों की पराजय और कुछ सामाजिक प्रयोगों की विफलता विचारधारा की निर्णायक विफलता नहीं है। आज की पूँजीवादी दुनिया में जिस प्रकार पूँजीवादी उत्पादन वित्तीय पूँजी के सागर में बुलबुले के समान रह गया है, लूट के बँटवारे के लिए लुटेरे आपस में लड़ रहे हैं, यह सब मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को सच्चा साबित कर रहा है। तो फिर, क्रान्ति के बारे में भी मार्क्सवाद ने जो कहा है वह भी सही है। इतिहास में सामाजिक क्रान्तियों के प्रारम्भिक संस्करण प्रायः विफल होते रहे हैं। पूँजीवाद ने तीन सौ वर्ष लम्बे संघर्ष और कई-कई पराजय के बाद सामन्तवाद को निर्णायक रूप से परास्त किया था। सर्वहारा क्रान्ति तो केवल तीन सौ वर्ष पुराने पूँजीवाद के विरुद्ध नहीं पाँच हज़ार वर्ष पुराने पूरे वर्ग-समाज के विरुद्ध क्रान्ति है, निजी सम्पत्ति की समूची व्यवस्था, मूल्यों-मान्यताओं-संस्कारों के विरुद्ध इतिहास की सबसे आमूल परिवर्तनवादी क्रान्ति है। यह इतिहास की पहली सचेतन क्रान्ति है। हर प्रकार की वर्गीय सत्ता और वर्गीय संस्थाओं का समूल उच्छेदन करने वाली क्रान्ति है जिसके लिए समस्त समष्टिगत शक्ति के व्यापकतम-सूक्ष्मतम और जटिलतम प्रयोग की आवश्यकता होती है। यह ऐतिहासिक मिशन केवल वही वर्ग पूरा कर सकता है जिसके पास खोने के लिए सिर्फ़ अपनी बेड़ियाँ हैं और पाने के लिए सारा विश्व है। केवल सर्वहारा वर्ग ही इस क्रान्ति को अंजाम दे सकता है।

1917 को तो अभी सिर्फ़ 100 साल बीते हैं। 1976 को सिर्फ़ तीस साल ही तो हुए हैं। फिर, मायूसी कैसी? ये समस्याएँ हमारे लिए सोचने का सबब हैं, चिन्तन और चिन्ता का सबब हैं, पर निराशा के सागर में डूबने-उतराने का सबब ये क़तई नहीं हो सकतीं।

आज हमारे सामने प्रश्न अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करणों के निर्माण का है। इतिहास कभी भी अपनेआप को

अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करणों की रचना के लिए सजेंगे फिर नये लश्कर! मचेगा रण महाभीषण!

(पेज 10 से आगे)

हूबहू नहीं दोहराता है, या यूँ कहें कि क्रान्तियों की कार्बन कॉपी नहीं की जा सकती। वर्तमान अतीत से सीखकर भविष्य का निर्माण करता है, अतीत के साँचे में भविष्य को नहीं ढाला जा सकता है। इतिहास में प्रायः ऐसा होता रहा है कि महान क्रान्तियों का आलोचनात्मक विवेक के साथ अध्ययन करने के बजाय प्रायः उनके नारों, मार्ग और मॉडल का अनुकरण करने की कोशिश की जाती है। पर ऐसा करके अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करण की सर्जना कतई नहीं की जा सकती। हमारा पहला काम है कि विश्व सर्वहारा क्रान्ति के लम्बे इतिहास के चार मील के पत्थरों - पेरिस कम्यून, अक्टूबर क्रान्ति, चीनी क्रान्ति और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति - का गहन अध्ययन करें। खासकर आखिरी मुकाम, 1966-76 तक चीन में माओ के नेतृत्व में पूँजीवादी पुनर्स्थापना रोकने के लिए किये गये शानदार प्रयोगों और मार्क्सवादी विज्ञान में किये गये इजाफ़े का अध्ययन करें। इस मुकाम ने सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान को जो सर्वतोमुखी समृद्धि प्रदान की, उसे आत्मसात करें और इस विचारधारात्मक सम्पदा के आधार पर आज की दुनिया को जानने-समझने की कोशिश करें। हमें अतीत की क्रान्तियों से मार्गदर्शक सिद्धान्तों के रूप में विचारधारात्मक सारतत्त्व को लेना है। उन क्रान्तियों की रणनीति, आम रणकौशल, क्रान्ति के मार्ग, प्रचार और उद्वेलन के नारों आदि-आदि से हम टुकड़ों में कुछ सीख सकते हैं, कुछ आइडिया ले सकते हैं, लेकिन उन्हें हूबहू उधार नहीं ले सकते। परिस्थितियों को सिद्धान्त के खाँचे में फिट नहीं किया जा सकता, बल्कि परिस्थितियों का अध्ययन करके सिद्धान्त का निर्माण किया जाता है।

लेनिन के समय से ही नहीं, माओ के जीवनकाल से भी आज की दुनिया काफ़ी कुछ बदल चुकी है। यह सही है कि हम आज भी साम्राज्यवाद के युग में जी रहे हैं, लेकिन दुनिया की परिस्थितियों में काफ़ी बदलाव आये हैं। राष्ट्रीय प्रश्न आज लगभग समाप्त हो चुका है। तीसरी दुनिया के भी अधिकांश देशों में पूँजीपति वर्ग का कोई भी हिस्सा आज जनमुक्ति-संघर्ष का भागीदार नहीं हो सकता। तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में शासक पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझेदार है। वह साम्राज्यवाद से लड़ता-झगड़ता भी है तो जनता की लूट में अपना हिस्सा बढ़ाने के लिए। तीसरी दुनिया के लगभग सभी देशों में पूँजी और श्रम के बीच का अन्तरविरोध आज का प्रधान अन्तरविरोध बन चुका है। लेनिन के समय में वित्तीय पूँजी के निर्यात के तौर-तरीकों से काफ़ी हद तक भिन्न और नये रूपों में भी आज पूँजी का निर्यात हो रहा है। राष्ट्रपारीय निगमों का ज़बरदस्त विस्तार हुआ है और उनकी प्रकृति और कार्य-प्रणाली में भी

काफ़ी बदलाव आया है। वित्तीय पूँजी के निर्यात के नये-नये तौर-तरीके विकसित हुए हैं, जिसने राष्ट्र-राज्यों की भूमिका में महत्वपूर्ण बदलाव किये हैं। यह तो तय है कि राष्ट्र-राज्यों की भूमिका पूँजीवाद के रहते बनी रहेगी, लेकिन इसमें आज काफ़ी बदलाव आये हैं।

विश्व पूँजीवादी तन्त्र के सारतत्त्व और स्वरूप, दोनों में काफ़ी परिवर्तन आये हैं। उत्पादक और अनुत्पादक पूँजी का अनुपात आज एक के मुकाबले तीन से भी अधिक हो चुका है। सर्वहारा वर्ग की संगठनबद्धता की चेतना को उन्नत तकनीकों और सोची-समझी राजनीतिक रणनीति के तहत शासक वर्ग पूरी दुनिया में खण्ड-खण्ड बाँटने की कोशिश में लगा हुआ है। एक हद तक उसे इसमें सफलता भी मिली है। बड़े कारखानों में होने वाले कामों को छोटे-छोटे कारखानों में बिखरा देने, उत्पादन को छोटी-छोटी घरेलू इकाइयों तक में बाँट देने से लेकर एक ही माल के अलग-अलग हिस्से अलग-अलग देशों तक में बनाने जैसे तरीके अपनाकर सर्वहारा वर्ग को बड़े पैमाने पर एकजुट होने से रोकने की नयी-नयी तरकीबें निकाली जा रही हैं। इन सबने सर्वहारा वर्ग में कमजोर और बिखरे होने का अहसास एक हद तक पैदा किया है। लेकिन इसका एक दूसरा पहलू भी है। उत्पादन को दुनियाभर में इस प्रकार बाँट देने से एक नयी परिघटना सामने आयी है, बुद्धिजीवी लोग जिसे 'ग्लोबल असेम्बली लाइन' का नाम देते हैं, जिसने सर्वहारा की वैश्विक एकजुटता का एक नया आधार मुहैया कराया है।

इन तमाम परिस्थितियों को समझकर ही अक्टूबर क्रान्ति के उस नये संस्करण की सर्जना की जा सकती है जो विश्व पूँजीवाद और सर्वहारा वर्ग के बीच विश्व ऐतिहासिक महासमर के दूसरे चक्र का पहला मील का पत्थर बनेगा।

•
दुनिया की परिस्थितियों में आये इन सारे बदलावों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि आज नवजनवादी क्रान्ति की मंजिल एकाध अपवादों को छोड़कर दुनिया में कहीं नहीं रह गयी है। लेकिन आज भी कुछ लोग माओ के अवदानों को सही ढंग से अपनाने की जगह उनसे नवजनवादी क्रान्ति का मॉडल उधार लेकर लागू करने की कोशिश में लगे हुए हैं। ये विचारधारा और कार्यक्रम का अन्तर ही नहीं समझते। नयी परिस्थितियों का अध्ययन कर अपनी रणनीति बदलने के बजाय ये लोग पुराने जूते में फिट करने के लिए पैर को ही काटने में जुटे हुए हैं।

तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में नवजनवादी क्रान्ति की मंजिल तो आज नहीं रह गयी है, लेकिन यहाँ आज समाजवादी क्रान्ति भी वही नहीं होगी जिसकी बात मार्क्स ने की थी या जो रूस में सम्पन्न हुई थी। रूस की अक्टूबर क्रान्ति विशेष परिस्थितियों में सफल हुई थी। रूस पूरब और पश्चिम के पुल पर

था, रूस जैसे देश ज़्यादा नहीं थे। वहाँ जो क्रान्ति हुई वह उस समय केवल रूस में ही सम्भव थी। वह समाजवादी क्रान्ति थी, लेकिन उसे आसन्न बुर्जुआ क्रान्ति के कार्यभारों को भी पूरा करना था। इसके अलावा, रूसी बुर्जुआ वर्ग इस क्रान्ति के प्रति सावधान नहीं था। 1905-07 की क्रान्ति के बुरी तरह कुचल दिये जाने के बाद वह ज़ारशाही के पतन की बात तो सोचता था और फ़रवरी 1917 में मुख्यतः मेहनतकशों की ताकत के बल पर उसने राज्यसत्ता पर कब्ज़ा भी जमा लिया था, लेकिन उसे कतई यह अनुमान नहीं था कि कुछ ही महीनों के बाद बोलशेविक वहाँ सत्ता पर कब्ज़ा भी कर सकते हैं। प्रमुख साम्राज्यवादी देशों के आपसी युद्ध में उलझे होने का लाभ भी सोवियत क्रान्ति को मिला। इस रूप में अक्टूबर क्रान्ति विशिष्ट परिस्थितियों में हुई एक विशिष्ट क्रान्ति थी।

आज खासकर तीसरी दुनिया के उन देशों में एक नये प्रकार की समाजवादी क्रान्ति की परिस्थितियाँ पैदा हुई हैं, जिनकी उत्पादक शक्तियाँ अपेक्षाकृत अधिक उन्नत हैं। बुनियादी उद्योग काफ़ी विकसित हो चुके हैं और कृषि अर्थव्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक सुदृढ़ है। इन देशों में भारत भी है। ब्राज़ील, अर्जेंटीना, मेक्सिको, चीले, मिस्र, इण्डोनेशिया, मलेशिया, दक्षिण अफ्रीका जैसे देश इनमें अग्रिम पंक्ति में हैं। इन देशों में होने वाली साम्राज्यवाद विरोधी-पूँजीवाद विरोधी क्रान्तियाँ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में यूरोप के देशों में सम्भावित क्रान्तियों से भी भिन्न होंगी।

भारत जैसे देश का उदाहरण लें, जहाँ आज सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी अस्सी करोड़ से भी अधिक हो चुकी है। आज भी हमारे देश में आबादी का लगभग साठ प्रतिशत गाँवों में बसता है, लेकिन गाँवों में भी पूँजीवादी उपक्रमों का तेज़ी से फैलाव हो रहा है और खेती मुख्यतः पूँजीवादी खेती बन चुकी है। ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे-छोटे उद्योगों के अलावा एग्री-बिज़नेस का तेज़ी से प्रसार हो रहा है, जिनमें ग्रामीण सर्वहारा की बड़ी आबादी लगी है। भारत के देहात में पूँजी का फैलाव रूस में क्रान्ति के समय से कई गुना अधिक हो चुका है। ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों की ओर प्रवर्जन और किसानों के विभेदीकरण की रफ़्तार बेहद तेज़ है। शहरीकरण अभूतपूर्व गति से बढ़ रहा है। बड़े शहरों के इर्द-गिर्द औद्योगिक बस्तियों के फैलाव के अलावा छोटे शहरों के बड़े शहर बनने और क़स्बों तथा ग्रामीण बाज़ारों के शहर बनने की प्रक्रिया लगातार जारी है। देश के तटवर्ती इलाकों और कच्चे माल से समृद्ध इलाकों में नये औद्योगिक नगर उग आये हैं। आज से दो दशक आगे के भारत की कल्पना करें तो तस्वीर एकदम अलग दिखायी देती है। ब्राज़ील सहित लातिन अमेरिका के कई देशों में तो आधी से अधिक आबादी शहरी हो

चुकी है। औद्योगिक अर्थव्यवस्था से ग्रामीण अर्थव्यवस्था बहुत पीछे छूट चुकी है। अक्टूबर क्रान्ति में हिस्सा लेने वाले सर्वहारा वर्ग की संख्या से कई गुना अधिक सर्वहारा आज इन देशों में क्रान्ति की क़तराओं में शामिल होने के लिए मौजूद हैं। शहरी और ग्रामीण सर्वहारा, छोटे-मोटे रोज़गार करने वाले अर्द्धसर्वहाराओं की भारी आबादी और ग़रीब किसान आबादी आज इन देशों की बहुसंख्यक आबादी बन चुकी है।

किसान प्रश्न आज भी उपस्थित है। क्रान्ति की कोतल सेना (रिज़र्व आर्मी) आज भी किसान ही होंगे, लेकिन आज केवल निम्न-मध्यम किसान तक ही क्रान्ति के साथ खड़े हो सकते हैं। खुशहाल मध्यम किसान तक आज समाजवाद के नारे के पक्ष में नहीं खड़े होने वाले। यह कहा जा सकता है कि कृषि प्रश्न के समाधान का फ़्रेमवर्क अब अल्पकालिक अवधि के लिए भी बुर्जुआ जनवादी नहीं हो सकता। उसका समाधान केवल समाजवादी क्रान्ति के फ़्रेमवर्क में ही हो सकता है। तीसरी दुनिया के शासक वर्ग साम्राज्यवाद के साथ लूट के माल में अपनी हिस्सेदारी बढ़ाने के लिए दबाव डालने के लिए सौदेबाज़ी में पलड़ा अपनी ओर झुकाने के लिए जनता के आन्दोलनों को बटखरे की तरह इस्तेमाल करते हैं। साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति का नारा देने वाले लोग आज ऐसे ही बटखरे के रूप में इस्तेमाल हो रहे हैं, क्योंकि पूँजीपति वर्ग का कोई भी हिस्सा साम्राज्यवाद-विरोधी क्रान्तिकारी संघर्ष का आज भागीदार नहीं हो सकता। देशी पूँजी की सत्ता के विरुद्ध लड़ते हुए ही आज साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ा जा सकता है। आज कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के अनेक धड़े, जो लाभकारी मूल्यों के लिए और लागत मूल्यों में कमी के लिए धनी किसानों और खुशहाल मध्यम किसानों के आन्दोलनों में अपनी ताकत लगा रहे हैं, वे भी ऐसे ही बटखरों का काम कर रहे हैं।

यह नयी समाजवादी क्रान्तियों का दौर है

आज की नयी क्रान्तियों का मार्ग भी पहले की क्रान्तियों से भिन्न होगा। यह दीर्घकालिक लोकयुद्ध जैसा तो नहीं ही हो सकता, लेकिन यह अक्टूबर क्रान्ति जैसा भी नहीं हो सकता है। बुर्जुआ सत्ता ने न केवल देश के सुदूर इलाकों तक अपने सामाजिक आधारों का विस्तार किया है बल्कि उसकी सामरिक शक्ति, तकनीक और रणकौशल भी बहुत अधिक विकसित हो चुके हैं। पूरे देश को प्रशासनिक तन्त्रा और यातायात-संचार के साधनों से बाँध दिया गया है। नाना प्रकार की वित्तीय-व्यापारिक संस्थाओं के ज़रिये पूँजी की जकड़बन्दी से देश का शायद ही कोई हिस्सा अछूता रह गया है। लेनिनकालीन देशों के मुकाबले

आज की पूँजीवादी सत्ता ने गाँवों में अपने सामाजिक अवलम्बों का अत्यन्त योजनाबद्ध ढंग से विस्तार किया है। मजदूरों के बीच से एक कुलीन संस्तर तीसरी दुनिया के अपेक्षाकृत उन्नत देशों में भी विकसित हुआ है। हालाँकि उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों ने इसके एक हिस्से पर चोट की है, लेकिन एक बड़ा हिस्सा अभी भी मजदूर वर्ग के ग़दारों के सामाजिक आधार का काम कर रहा है। मध्यवर्ग के एक बहुत बड़े हिस्से को ग़रीब जनता से लूटे गये मुनाफ़े के टुकड़े बाँटकर व्यवस्था का पैरोकार बना लिया गया है। शहरी मध्यवर्गीय आबादी का भी एक बड़ा हिस्सा आज पूरी तरह इस व्यवस्था के पक्ष में खड़ा है।

आज भी किसी बुर्जुआ सत्ता को आम बगावत के ज़रिये ही चकनाचूर किया जा सकता है, लेकिन उस निर्णायक मुकाम तक पहुँचने की प्रक्रिया दीर्घकालिक होगी। पूँजी और श्रम के बीच मोर्चा बाँधकर लड़ाई (पोजीशनल वार) का लम्बा सिलसिला चलेगा जिसमें कई बार सर्वहारा की ताकतों को आगे बढ़कर पीछे हटना पड़ सकता है। उन्हें विभिन्न रचनात्मक तरीकों से समाज में अपनी जड़ें गहरे जमाने होंगी। नेपाल जैसी क्रान्ति आज एक अपवाद है। यह वस्तुतः बीसवीं सदी की क्रान्ति है, विश्व सर्वहारा क्रान्ति का बैकलॉग है। यह इक्कीसवीं सदी की पथप्रदर्शक क्रान्ति नहीं हो सकती। इन्हीं भिन्नताओं के आधार पर आज हम कहते हैं कि यह एक नया दौर है। नयी समाजवादी क्रान्तियों का दौर है। ये क्रान्तियाँ विचारधारा, राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाजवादी संक्रमण की प्रकृति विषयक चिन्तन, पार्टी सिद्धान्त जैसे सभी पक्षों को समृद्ध करते हुए आगे विकसित होंगी। ये क्रान्ति के विज्ञान को और समृद्ध बनायेंगी, क्रान्ति के शस्त्रागार में नये इजाफ़े करेंगी। मार्क्सवाद कोई जड़सूत्र नहीं बल्कि कर्मों का मार्गदर्शक विज्ञान है। उन्नत धरातल का व्यवहार सिद्धान्त को भी उन्नति की अगली ऊँचाइयों पर ले जायेगा।

एक नये सर्वहारा नवजागरण और नये सर्वहारा प्रबोधन के कार्यभारों को पूरा करना होगा

आज पूरी दुनिया की मेहनतकश जनता के सामने विचारधारा और इतिहासबोध का प्रश्न एक अहम प्रश्न है। बुर्जुआ मीडिया का प्रचारतन्त्र दिनोरात समाजवाद के बारे में झूठ का अम्बार खड़ा करने में जुटा हुआ है। हमारे महानायकों के बारे में घिनौना कुत्सा-प्रचार लगातार जारी रहता है। 1976 के बाद के दिनों में सयानी हुई नयी पीढ़ियों को सर्वहारा क्रान्तियों के गौरवशाली अतीत, क्रान्तिकारियों के विराट व्यक्तित्व और कुर्बानियों और समाजवाद की महान उपलब्धियों के बारे में बहुत कम जानकारी है। ऐसे में (पेज 19 पर जारी)

फासीवाद से निजात पाने के आसान रास्तों का भ्रम छोड़ें और असली लड़ाई की तैयारी में जुटें

(पेज 1 से आगे)

हुए हैं। राजस्थान में एक गरीब मजदूर अफ़राज़ुल की धिनौनी हत्या करने वाले शम्भू के समर्थन में उदयपुर की अदालत पर धावा बोलकर उत्पात मचाने वाली सैकड़ों उन्मादियों की भीड़ आज हर शहर में तैयार हो चुकी है। उनका मुकाबला कौन करेगा? सरकारी मशीनरी और न्यायपालिका में फासिस्टों की घुसपैठ नीचे से लेकर ऊपर तक हो चुकी है। अदालत परिसर में आसाराम जैसे बलात्कारी का चरण-चुम्बन करने वाला मुख्य न्यायाधीश कोई अपवाद नहीं है।

पिछले तीन दशक से जारी नव उदारवादी नीतियों और पूँजीवादी व्यवस्था के लाइलाज ढाँचागत संकट ने पूरे समाज में फासीवाद के बढ़ने के लिए माहौल तैयार किया है। पूँजीवाद की मार से आबादी के अलग-अलग तबकों में बढ़ते असन्तोष और असुरक्षा बोध का फ़ायदा हिन्दुत्ववादी फासिस्टों ने बहुत कुशलता से उठाया है और पूँजीपति घरानों के पूरे समर्थन से भाजपा सत्ता के शिखर तक पहुँचने में कामयाब रही है। लेकिन हमें पिछले 27 वर्षों का इतिहास भूलना नहीं चाहिए जो बताता है कि भाजपा सत्ता में न रहे, तब भी समाज में बर्बर फासिस्टों का उत्पात जारी रहेगा। इस नासूर को आपरेशन के ज़रिए निकाल फेंककर ही खत्म किया जा सकता है। जब तक पूँजीवाद रहेगा तब तक फासीवाद भी मौजूद रहेगा। फासिस्टों को पीछे धकेलने के लिए भी सड़कों पर जुझारू आन्दोलन खड़े करने होंगे और आमने-सामने की भिड़न्त करने के लिए तैयार रहना होगा। मेहनतकशों की तैयारी और संगठन के बिना यह काम नहीं हो सकता। फासीवाद निम्न-बुर्जुआ वर्गों का एक धुर-प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन है जिसे एक कैडर-ढाँचे वाली पार्टी संगठित करती है और नेतृत्व देती है। इसे एक कैडर-आधारित ढाँचे वाले क्रान्तिकारी संगठन के नेतृत्व में क्रान्तिकारी सामाजिक आन्दोलन खड़ा करके ही पीछे धकेला जा सकता है। बेशक यह काम बेहद कठिन और लम्बा है मगर आसान उपायों से आस लगाकर मन को झूठी तसल्ली देने का कोई फ़ायदा नहीं।

पिछले 65 वर्ष के इतिहास के बाद भी बुर्जुआ चुनावों से न्यायपूर्ण फैसलों की उम्मीद बताती है कि देश के प्रगतिशील बौद्धिक भद्रजनों में बुर्जुआ संसदीय जनवाद को लेकर अभी कितना मोह और विभ्रम बना हुआ है। आम मेहनतकश जनता अपने अनुभवों से जान चुकी है कि चुनावों से उसकी जिन्दगी में कोई बुनियादी तब्दीली आने वाली नहीं है। लेकिन बुद्धिजीवी भद्रजन चुनाव से ही फासीवाद को शिकस्त देने की उम्मीदों पर अभी क्रायम हैं! संसदीय चुनावों में सबकुछ थैली की ताकत से तय होता है और भारत के बड़े पूँजीपतियों के लिए अभी भी पहला विकल्प भाजपा ही है क्योंकि

वह बर्बर दमन और जनता को आपस में बाँटकर नव उदारवादी नीतियों को लागू करने के लिए सबसे अधिक तैयार और सक्षम है। यह अनायास नहीं है कि कॉर्पोरेट घरानों से क्रान्ती तौर पर जो सैकड़ों करोड़ का चन्दा राजनीतिक पार्टियों को मिला उसमें से 89 प्रतिशत अकेले भाजपा को मिला है और शेष का बाँटवारा अन्य सभी बुर्जुआ पार्टियों में हुआ है। (कहने की ज़रूरत नहीं कि पर्दे के पीछे दी जाने मदद का यह बहुत छोटा-सा हिस्सा है।) दूसरे, जब कोई क्रान्तिकारी वर्ग-राजनीति दमदार ढंग से मौजूद नहीं है, तो धर्मान्धता और अन्धराष्ट्रवाद सहित तमाम तरह के भावनात्मक मुद्दे उभाड़कर भाजपा का आगे निकल जाना स्वाभाविक है। इसके अलावा, फासिस्ट बुर्जुआ लोकतंत्र का इस्तेमाल करने के लिए हर तौर-तरीके, संविधान आदि को ताक पर रखकर, न केवल नौकरशाही और खुफिया तंत्र को बल्कि न्यायपालिका और चुनाव आयोग जैसी संस्थाओं को भी अपना नौकर बना लेते हैं और किसी भी हद तक जाकर षडयंत्र और तीन-तिकड़म करने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती। ऐसी स्थिति में ईवीएम में गड़बड़ी और हैकिंग के जो आरोप हार्दिक पटेल ने तथ्यों सहित लगाये हैं, उन्हें खारिज नहीं किया जा सकता। 2002 में गुजरात में हुए क़त्लेआम के समय से ही ऐसे बहुत से शोध-अध्ययन हुए हैं जो यह बताते हैं कि किस तरह से भाजपा ने गुजरात के व्यापारियों, शहरी मध्य वर्ग और धनी किसानों के बीच मौजूद अपने सामाजिक आधार का विस्तार करने के लिए पिछले 25-30 वर्ष में आदिवासियों, दलितों और पिछड़ों के एक बड़े हिस्से का साम्प्रदायीकरण किया है और इन तबकों के युवाओं के बीच से फासिस्ट गुण्डों की भरती की है। इस पहलू को भी भूलना नहीं चाहिए।

मोदीराज से निजात दिलाने के लिए कांग्रेस पर अपनी उम्मीद भरी नज़रें टिकाये और राहुल गाँधी को लेकर भाव-विह्वल हो रहे जनता से कटे सेकुलर और प्रगतिशील भद्रजन सबकुछ जानते हुए भी इस गंगी सच्चाई को भूल जाना चाहते हैं कि जिन नव-उदारवादी नीतियों ने हिन्दुत्ववादी फासीवाद के लिए उपजाऊ ज़मीन तैयार की है, उन्हें लागू करने की शुरुआत कांग्रेस ने ही की थी और उसी ने उन्हें सबसे अधिक परवान चढ़ाया है। कांग्रेस बुर्जुआ वर्ग की मुख्य पार्टी रही है और आज भी दूसरे नम्बर का विकल्प है। उसीकी सरकार ने पूँजीपति वर्ग की ऐतिहासिक ज़रूरत के तौर पर उस वर्ग की मैनेजिंग कमेटी के रूप में काम करते हुए नव-उदारवादी नीतियों को धड़ल्ले से लागू किया। अब इतिहास के चक्के को पीछे घुमाकर वह नेहरूवादी "समाजवाद" के राजकीय एकाधिकारी पूँजीवादी मॉडल और 'कल्याणकारी' राज्य के नुस्खों की ओर वापस नहीं जा सकती। वह भी

यदि सत्ता में आयेगी तो इन्हीं आर्थिक नीतियों को दमनकारी ढंग से लागू करेगी और इससे पैदा हुए सामाजिक संकट का फ़ायदा उठाकर ज़मीनी तौर पर फासिस्ट शक्तियाँ अपना काम करती रहेंगी। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि कांग्रेस का सेकुलरिज्म हमेशा से विकृत-विकलांग और सड़ी खिचड़ी जैसा रहा है और धर्म का चुनावी कार्ड खेलने तथा कड़ी केसरिया लाइन के बरक्स नरम केसरिया लाइन अपनाने का काम कांग्रेस काफी पहले से करती आ रही है। राम जन्मभूमि का ताला खुलवाने और बाबरी मस्जिद ध्वंस के समय कांग्रेस सरकार की भूमिका से लेकर इस गुजरात चुनाव में राहुल गांधी द्वारा खुद को शिव-भक्त और जनेऊधारी ब्राह्मण घोषित करते हुए मन्दिर-मन्दिर घूमने तक का सिलसिला कांग्रेस की नरम केसरिया लाइन की राजनीति को एकदम नंगा कर देता है। लेकिन कांग्रेसी इस बात को नहीं समझ पाते कि भाजपा केवल अपनी केसरिया लाइन के कारण ही सफल नहीं होती है। मुख्य बात है कि उसके पास फासिस्ट पार्टी का एक कैडर-आधारित ढाँचा है और उसके पीछे एक घोर प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन की शक्ति है जोकि कांग्रेस के पास न है, न हो सकती है।

भारत की संसदीय वाम पार्टियाँ ऐसी लुल्ल हो चुकी हैं कि कांग्रेस और विभिन्न क्षेत्रीय बुर्जुआ पार्टियों के साथ मोर्चा बनाकर चुनाव में भाजपा को हराने से आगे कुछ सोच ही नहीं पातीं। कांग्रेस की स्थिति की ऊपर चर्चा की जा चुकी है। जहाँ तक क्षेत्रीय बुर्जुआ दलों की बात है तो भाजपा का विरोध करते-करते उनमें से कब कौन उछलकर भाजपा की गोदी में जा चढ़ेगा, यह कोई नहीं बता सकता। भारत की संसदीय वाम पार्टियों का आचरण वैसा ही है जैसा 1920 और 1930 के दशक में संसदमार्गी काउत्स्कीपन्थी सामाजिक जनवादी पार्टियों का जर्मनी और पूरे यूरोप में था। वहाँ फासिस्ट जब सत्ता में आये तो संसदमार्गी सामाजिक जनवादियों को भी उन्होंने नहीं बख्शा। भारत के संसदीय वाम को यह बात याद रखनी होगी कि फासिज्म के कहर से वे खुद भी तभी बच सकते हैं जब चुनावी राजनीति और चवन्निया अर्थवादी कवायदों से अलग हटकर वे सड़कों पर उतरें और मजदूरों को फासीवाद के खिलाफ ज़मीनी जुझारू लड़ाई के लिए तैयार और संगठित करें। यदि वे ऐसा करें तो तमाम विचारधारात्मक मतभेदों के बावजूद क्रान्तिकारी वाम को उनके साथ मोर्चा बनाकर खड़ा होना चाहिए। पर इन पार्टियों के नेता, और अधिकांश कार्यकर्ता भी, अपना जुझारूपन, कर्मठता और कठोर जीवन की आदत इस क्रूर खो चुके हैं कि उनसे इसकी उम्मीद कम ही लगती है।

यदि हम थोड़ा भी इतिहास को जानते-समझते हों, तो यह बात अच्छी तरह समझ लेनी होगी कि फासीवाद से

लड़ने का सवाल चुनावी जीत-हार का सवाल नहीं है। इस धुर प्रतिक्रियावादी सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन का मुकाबला केवल एक जुझारू क्रान्तिकारी वाम आन्दोलन ही कर सकता है।

इतिहास गवाह है कि मजदूर वर्ग को राजनीतिक रूप से सचेतन और सक्रिय बनाये बिना फासीवादी लहर का मुकाबला नहीं किया जा सकता। चुनावी वाम दलों ने इस दिशा में कुछ नहीं किया है, बल्कि उल्टे केवल आर्थिक लड़ाइयों और सौदेबाजियों में उलझकर मजदूरों की राजनीतिक चेतना को बर्बाद करने का ही काम किया है। बिखरे हुए क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ग्रुप मजदूरों में नगण्य प्रभाव रखते हैं और वे भी जुझारू अर्थवाद और स्वतःस्फूर्ततावाद में ही फँसे हुए हैं। उनका एक प्रभावी हिस्सा वाम दुस्साहसवाद में धँसा हुआ है, शेष भारतीय समाज की ग़लत समझ (नवजनवादी क्रांति की मंजिल की समझ) के आधार पर मालिक किसानों की लड़ाई लड़ रहे हैं, भूमि वितरण की पुरानी माँग पर क्रायम हैं और व्यवहारतः नरोदवादी आचरण कर रहे हैं। मजदूर वर्ग उनके एजेण्डे पर है ही नहीं। जहाँ तक असंगठित मजदूरों की भारी आबादी का सवाल है, उनमें किसी की पहुँच नहीं के बराबर है। इसका फासीवादियों को बहुत लाभ मिल रहा है।

कुल मिलाकर, भाजपा की चुनावी सफलताएँ भारतीय राजनीति में संघ परिवार की हिन्दुत्ववादी फासीवादी राजनीति के प्रचण्ड उभार का एक महत्वपूर्ण संकेतक है, लेकिन यह कतई नहीं समझा जाना चाहिए कि कांग्रेस और क्षेत्रीय बुर्जुआ पार्टियाँ यदि तालमेल करके कुछ चुनावों में भाजपा को हरा दें या 2019 के आम चुनावों में जीतकर यदि कांग्रेस गठबन्धन फिर से केन्द्र में सत्तासीन हो जाये तो हिन्दुत्ववादी फासीवादी लहर को पीछे धकेल दिया जायेगा। बुर्जुआ संसदीय चुनावों में हराकर नहीं, बल्कि व्यापक मेहनतकश जन समुदाय को लामबन्द करके सड़कों पर आर-पार की लड़ाई में ही फासीवाद को निर्णायक शिकस्त दी जा सकती है।

भाजपा हिन्दुत्ववाद का मात्र संसदीय मोर्चा है। हिन्दुत्ववाद हर फासीवादी आन्दोलन की तरह एक धुरप्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन है। यह मुख्यतः मध्य वर्ग का सामाजिक आन्दोलन है, जिसके साथ उत्पादन प्रक्रिया से कटे हुए विमानवीकृत मजदूर भी खड़े हैं और जिसे बड़े-छोटे पूँजीपतियों और कुलकों-फार्मरों के बहुलांश का—यानी बुर्जुआ सत्ता के सभी छोटे-बड़े हिस्सेदारों के बहुलांश का समर्थन हासिल है। संघ परिवार का कैडर आधारित सांगठनिक ढाँचा इस प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन का हरावल दस्ता है। इसका कारण

प्रतिरोध एक क्रान्तिकारी सामाजिक आन्दोलन ही कर सकता है जिस पर मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीति का वर्चस्व एक कैडर आधारित सांगठनिक ढाँचे के माध्यम से स्थापित हो। यह लड़ाई कैसी होगी इसे समझने के लिए यदि इसकी तुलना सामरिक संघर्ष से करें तो कहा जा सकता है कि यह छापामार युद्ध या चलायमान युद्ध जैसी न होकर मोर्चा बाँधकर लड़ी जाने वाली लड़ाई जैसी होगी। फासिस्टों ने विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं के रूप में समाज में अपनी खन्दकें खोद रखी हैं और बंकर बना रखे हैं। हमें भी अपनी खन्दकें खोदनी होंगी और बंकर बनाने होंगे। बेशक यह काम मेहनतकश जन समुदाय के राजनीतिक और आर्थिक संघर्षों के साथ-साथ होगा और मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीति का केन्द्र यदि संगठित हो तो रणकौशल के तौर पर बुर्जुआ संसदीय चुनावों के मैदान में भी फासिस्टों से भिड़न्त की जा सकती है, लेकिन यह भ्रम पालना आत्मघाती होगा कि चुनावी हार-जीत से फासिस्टों को पीछे धकेला जा सकता है। मेहनतकश जन समुदाय (शहरों-गाँवों के सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा) के सभी हिस्सों का फासीवाद-विरोधी साझा मोर्चा आज की सर्वोपरि ज़रूरत है। इसके बाद ही निम्न मध्य वर्ग के रैडिकल, सेक्युलर तत्वों—विशेषकर छात्रों-युवाओं की जुझारू आबादी को, मजबूती से साथ लिया जा सकेगा। बुर्जुआ वर्ग का कोई भी हिस्सा या बुर्जुआ वर्ग की कोई भी पार्टी फासीवाद विरोधी संघर्ष में मेहनतकश जनता का रणनीतिक मित्र नहीं हो सकती।

आने वाला समय मेहनतकश जनता और क्रान्तिकारी शक्तियों के लिए कठिन और चुनौतीपूर्ण है। हमें राज्यसत्ता के दमन का ही नहीं, सड़कों पर फासीवादी गुण्डा गिरोहों का भी सामना करने के लिए तैयार रहना पड़ेगा। रास्ता सिर्फ़ एक है। हमें ज़मीनी स्तर पर गरीबों और मजदूरों के बीच अपना आधार मजबूत बनाना होगा। बिखरी हुई मजदूर आबादी को जुझारू यूनियनों में संगठित करने के अतिरिक्त उनके विभिन्न प्रकार के जनसंगठन, मंच, जुझारू स्वयंसेवक दस्ते, चौकसी दस्ते आदि तैयार करने होंगे। आज जो भी वाम जनवादी शक्तियाँ वास्तव में फासीवादी चुनौती से जूझने का जज़्बा और दमखम रखती हैं, उन्हें एकजुट होकर लड़ने के लिए आगे आना चाहिए। हमें भूलना नहीं चाहिए कि इतिहास में मजदूर वर्ग की फौलादी मुट्ठी ने हमेशा ही फासीवाद को चकनाचूर किया है, आने वाला समय भी इसका अपवाद नहीं होगा। लेकिन इसके लिए ज़रूरी है कि हम आसान उपायों के भ्रम से अपने को मुक्त करें और अपनी भरपूर ताकत के साथ लड़ाई की तैयारी में जुट जायें।

गौरक्षा का गोरखधन्धा - फ़ासीवाद का असली चेहरा

“जब पहली बार सुना कि साथी क्रल्ल किये गये तो दहशत के नारे बुलन्द हुए, फिर सैकड़ों क्रल्ल हुए, फिर हज़ारों, और फिर जब क्रल्ल करने की सीमाएँ नहीं रहीं, तब सन्नाटे की चादर तन गयी। जब तकलीफ़ें बारिश की तरह आयें, तब कोई नहीं पुकारता - ‘थम जाओ, रुक जाओ!’ जब जुर्म के ढेर लग जायें तो जुर्म नज़रों से छुप जाते हैं!”

- बर्टोल्ट ब्रेट

पहले अख़लाक़, फिर अबु हनिफ़ा, फिर आर. सूरज, फिर अलीमुदीन अंसारी, जुनैद, पहलु खान.....न जाने कितने और! 2017 के साल के पहले 6 महीने में करीब 20 गौरक्षा से सम्बन्धित हमलों की रिपोर्टें सामने आयीं, जो 2016 के साल के आँकड़ों से भी 75 फ़ीसदी ज़्यादा है! इन हमलों में मॉब लिंगिंग, गौरक्षकों द्वारा हमले, हत्या व हत्या की कोशिशें, उत्पीड़न और यहाँ तक की कुछ मामलों में सामूहिक बलात्कार जैसे नृशंस अपराधों को अंजाम दिया गया है! जून 2017 तक मॉब लिंगिंग (भीड़ द्वारा हत्या) की जो भी घटनाएँ सामने आयी हैं, उनमें गाय सम्बन्धी हिंसा के प्रतिशत में एक आश्चर्यजनक वृद्धि देखने को मिली (जो पहले 5 प्रतिशत थी लेकिन जून के अन्त तक यह बढ़कर 20 प्रतिशत हो गयी।) यदि हम गौर से देखें तो उस हिंसक भीड़ के पीछे हमें एक सुनिश्चित विचारधारा और राजनीति दिखाई देती है। यह महज़ कोई क़ानून-व्यवस्था की समस्या नहीं है! बल्कि 2014 के बाद से जिस आश्चर्यजनक रूप से मॉब लिंगिंग की घटनाओं में वृद्धि हुई है और जिस प्रकार ज़्यादातर मामलों में मुस्लिमों व दलितों को टारगेट किया गया है, इससे साफ़ दिखता है कि आरएसएस व तमाम फ़ासिस्ट गुण्डा वाहिनी एक सुव्यवस्थित व्यापक प्रचार द्वारा लोगों के बीच एक मिथ्या चेतना का निर्माण कर रही है और उनके सामने एक नक़ली दुश्मन पेश कर एक विशेष धर्म, जाति, नस्ल या राष्ट्र के खिलाफ़ ज़हर फैलाने का काम कर रही है। और सत्ता में बैठी भाजपा सरकार ने इन फ़ासिस्ट गुण्डा वाहिनियों को और खुली छूट दे दी है। अब चाहे वह गाय की रक्षा का मुद्दा हो या लव जेहाद का धर्मान्तरण का - इनके नाम पर जो भीड़ हिंसा का ख़ूनी खेल खेल रही है, वह दरअसल फ़ासिस्ट ताक़तों की राजनीति है!

हालाँकि यह बिक्री हुई कॉरपोरेट मीडिया यह प्रचारित करने में लगी है कि मॉब लिंगिंग की घटनाएँ पहले भी होती रही हैं और इसका भाजपा सरकार से कोई लेना-देना नहीं है। हम इससे इनकार भी नहीं कर रहे कि पहले ऐसी घटनाएँ नहीं हुई हैं, पर सोचने वाली बात है कि क्यों 2010 से लेकर अभी तक जितनी भी गौ-हत्या से सम्बन्धित हमलों में मौतें हुई हैं, उनमें से 86%

मुस्लिम हैं और उसमें भी 96.8% ऐसे हमले 2014 के बाद हुए हैं! क्यों 63 में से 32 ऐसी घटनाएँ भाजपा-शासित राज्यों में घटित हुई हैं? इण्डिया-स्पेण्ड की एक रिपोर्ट के मुताबिक़ पिछले 7 साल के दौरान ऐसी मॉब लिंगिंग की घटनाओं में करीब 28 लोगों की मौत हो चुकी है, जिसमें से 24 लोग मुस्लिम थे! और इन हमलों में आधे से अधिक (52%) हमले अफ़वाहों पर आधारित थे! इण्डिया-स्पेण्ड रिपोर्ट में यह भी बात दिखाई गयी कि पिछले 8 सालों में 63 ऐसे हमलों में 61 हमले 2014-2017 के बीच हुए हैं और ऐसे हमलों में 5% मामलों में हमलावरों की गिरफ़्तारी की कोई रिपोर्ट नहीं सामने आयी है! उल्टे 13 घटनाओं (यानी 21%) में पुलिस ने पीड़ितों के खिलाफ़ मुक़दमा दायर किया है! और यह पाया गया है कि इनमें से 23 घटनाओं में विश्व हिन्दू परिषद, बजरंग दल और स्थानीय गौ-रक्षक समिति जैसे हिन्दू-कट्टरपन्थी फ़ासिस्ट समूह सक्रिय थे।

ऐसी घटनाओं पर सरकार की चुप्पी व निष्क्रियता से इन फ़ासीवादी ताक़तों को बढ़ावा मिल रहा है! मॉब-लिंगिंग की बढ़ती घटनाओं को देखते हुए जब पूरे देश-स्तर पर ‘नॉट इन माय नेम’ के बैनर तले विरोध-प्रदर्शन होने लगे, तब प्रधानमन्त्री मोदी को अपनी चुप्पी तोड़ने पर मजबूर होना पड़ा, उन्होंने इसका विरोध तो किया लेकिन बड़े दबे स्वर में! दूसरी तरफ़ भाजपा के तमाम नेता-मन्त्री के ऐसे बयान कि “मुस्लिमों को मुस्लिम बने रहने के लिए गौ-मांस खाना ज़रूरी नहीं! गोमांस खाना बन्द करने के बाद भी वे मुस्लिम हो सकते हैं। यह कहीं नहीं लिखा है कि मुसलमानों या ईसाइयों को गोमांस खाना ही पड़ता है!” - यह थे हरियाणा के मुख्यमन्त्री मनोहर लाल खट्टर के शब्द! दूसरी तरफ़ भाजपा सांसद सत्यपाल सिंह द्वारा दादरी हत्याकाण्ड को मामूली घटना करार देना या भाजपा सांसद साक्षी महाराज का यह बयान कि अगर कोई उनकी माँ को मारने की कोशिश करता है, तो वे चुप नहीं रहेंगे। वे हत्या करने और मारने के लिए तैयार हैं! ये सारी चीज़ें यही दर्शाती हैं कि वर्तमान सरकार द्वारा गौ-रक्षा पर की जा रही राजनीति का समर्थन इस तरह के उन्मादी समूहों को बढ़ावा दे रहा है। ये हिन्दुत्ववादी-फ़ासीवादी ताक़तें मॉब-लिंगिंग के जरिये आतंक पैदा करके धार्मिक अल्पसंख्यकों व दलितों को ऐसा दोयम दर्जे का नागरिक बना देना चाहते हैं, जिनके लिए क़ानून और जनवादी अधिकारों का कोई मतलब न रह जाये।

फ़ासिस्ट ताक़तों की गाय पर की जा रही राजनीतिक सवारी का इतिहास

साम्प्रदायिक ताक़तों द्वारा गौ-रक्षा के मुद्दे को हमेशा से उछाला जाता रहा है। स्वतन्त्र भारत में आरएसएस ने बार-बार गौ-मांस प्रतिबन्धी क़ानून के मुद्दे को एक जन-अभियान के रूप

- वारुणी पूर्वा

में उठाया है। राम मन्दिर के मुद्दे से भी पहले इस मुद्दे पर जोर दिया गया था, लेकिन 1980 तक इस पर लोगों की कोई ख़ास प्रतिक्रिया देखने को नहीं मिली। गाय काफ़ी समय से एक राजनीतिक सवारी के रूप में इस्तेमाल की जाती रही है और कई बार हिन्दू-मुस्लिम दंगे का कारण बनी है। गाय पर राजनीतिक सवारी का इतिहास हम तब से पाते हैं, जब दयानन्द सरस्वती द्वारा 1882 में गौरक्षिणी सभा का निर्माण किया गया और सभा की सक्रियता के बाद से 1880 व 1890 में भारत कई जगह दंगों की चपेट में आया। अंग्रेज़ी हुकूमत इस प्रकार की चीज़ों को और बढ़ावा देने का काम कर रही थी!

गौरक्षा का मुद्दा संविधान निर्माण के दौरान भी उठाया गया। केन्द्रीय स्तर पर पूर्ण रूप से गौमांस प्रतिबन्धी क़ानून बनाने की माँग एम.पी. सेठ गोविन्द दास व पण्डित ठाकुर भार्गव ने की थी व उन्होंने माँग की कि इस मुद्दे को संविधान में निर्देशक सिद्धान्तों के बजाय मूलभूत अधिकारों में शामिल किया जाये। परन्तु यह बात बहुमत को स्वीकार्य नहीं थी। अन्त में संविधान के अनुच्छेद 48 के अन्तर्गत यह बात शामिल की गयी कि ‘राज्य आधुनिक और वैज्ञानिक लाइनों पर कृषि और पशुपालन को व्यवस्थित करने का प्रयास करेगा और विशेष रूप से गायों व बछड़ों सहित अन्य दुग्ध पशुओं व उनकी विभिन्न नस्लों के सुधार के लिए क्रम उठायेगा व उनकी हत्याओं पर रोक लगायी जायेगी।’ गौ-हत्या पर पूर्ण पाबन्दी की संवैधानिक गारण्टी नहीं मिलने पर, कई राज्यों ने अन्य क़ानूनों द्वारा गौ-हत्या का अपराधीकरण कर, इसका विकल्प ढूँढ़ निकाला।

आगे चलकर संघ परिवार ने इस मुद्दे की ‘अहमियत’ पहचानते हुए पूर्ण रूप से गौहत्या पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग को लेकर लोगों को ‘लामबन्द’ करना शुरू किया। पहला क्रम गौरक्षा आन्दोलन के रूप में 1966 में शुरू हुआ। आगे 7 नवम्बर 1966 में गौरक्षा समूहों द्वारा दिल्ली में एक बड़ा विरोध-प्रदर्शन का आयोजन किया गया, जिसमें प्रभुदाम ब्रह्मचारी, एम.एस. गोलवलकर, सेठ गोविन्द दास, दिग्विजय नाथ भी शामिल थे। गौरक्षक दलों के अलावा हज़ारों की संख्या में साधू जुटे थे व साथ ही इस प्रदर्शन में राम राज्य परिषद, विश्व हिन्दू परिषद और आरएसएस के सदस्य भारी मात्रा में शामिल थे। इस प्रदर्शन के दौरान गाय के वध पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग करने वाले हज़ारों लोगों ने संसद पर हमला कर दिया। पुलिस और प्रदर्शनकारियों की मुठभेड़ में एक पुलिसकर्मी सहित 8 लोग मारे गये। इसके बाद 1967 में इन्दिरा गाँधी ने इस मुद्दे पर एक कमिटी गठित की, जिसमें अशोक मित्र (अर्थशास्त्री) व डॉक्टर वी. कुरियन के साथ आरएसएस के सरसंघचालक गोलवलकर भी शामिल

थे। इस कमिटी को अपनी रिपोर्ट 6 महीने में सौंपनी थी, पर इस पर आगे कोई कार्यवाही नहीं की गयी। इस आन्दोलन से संघ परिवार को कुछ विशेष हासिल नहीं हो सका। इसके बाद भी संघ परिवार इस मुद्दे को लेकर सक्रिय रहा। इस दौरान ‘पवित्र गाय’ को लेकर कई तरह के मिथक गढ़े गये, जिसने लोगों के दिमाग में ज़हर घोलने का काम किया। इस पर हम लेख के आगे के भाग में चर्चा करेंगे कि किस प्रकार आरएसएस व संघ परिवार ने एक विशेष धर्म के लोगों को अपना निशाना बनाया।

गौ संरक्षण क़ानूनों में बदलाव 1977-79 के काल में हुआ, जब जनता पार्टी सत्ता में आयी, जिसमें भारतीय जन संघ भी शामिल था। गोवा, दमन व दियू और हिमाचल प्रदेश में गौहत्या प्रतिबन्ध क़ानून जनता पार्टी की सरकार के कार्यकाल के दौरान आया। दिल्ली में पहली बार 1994 में मदनलाल खुराना की अगुवाई वाली भाजपा सरकार के तहत गौमांस रखना या खाना अपराधिक श्रेणी में लाया गया। गुजरात में 2005 में मोदी सरकार के निर्णय के चलते, सुप्रीम कोर्ट के फैसले के सौजन्य से, गौमांस रखने व पशु वध करने पर पूरी तरह से प्रतिबन्ध लगा दिया गया था, अब चाहे वे बेकार गायें ही क्यों न हो! (लेकिन अगर हम संविधान के अनुसार चलें तो अनुच्छेद 48 - ‘आधुनिक व वैज्ञानिक तर्ज पर पशुपालन को बढ़ावा देने’ व ‘उनकी नस्ल संरक्षण व सुधार’ की बात करता है - और गौहत्या पर पूर्ण प्रतिबन्ध इस ‘आधुनिक’ पशुपालन के लक्ष्य के आड़े आता है, क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से बूढ़ी-बीमार गाय जो दुधारू व प्रजनन लायक नहीं रह गयीं, को मारना, पशुपालन और नस्ल सुधार का एक महत्वपूर्ण तरीका है। ऐसे में गौहत्या पर पूर्ण प्रतिबन्ध संवैधानिक रूप से जायज़ नहीं ठहरता।)

आरएसएस सम्बन्धित कट्टरपन्थी हिन्दू संगठनों द्वारा गौहत्या पर अखिल भारतीय प्रतिबन्ध व गौहत्या के लिए कड़ी से कड़ी सज़ा की माँग जोर पकड़ने लगी थी। इन गौरक्षा आन्दोलनों के पीछे यह तर्क दिया जा रहा था कि भारत में गौहत्या पर रोक लगाने के लिए कोई क़ानूनी ढाँचा मौजूद नहीं है! जोकि एकदम झूठ बात थी! गौहत्या पर क़ानूनी पाबन्दी कोई नयी बात नहीं थी! उत्तर-पूर्व राज्यों को छोड़कर, अन्य सभी राज्यों में इस प्रकार के प्रतिबन्ध लम्बे समय से मौजूद हैं - उदाहरण के लिए दिल्ली, आन्ध्र प्रदेश व बिहार में ‘गाय व बछड़ों’ का काटा जाना पूरी तरह प्रतिबन्धित है। लेकिन विभिन्न राज्यों के क़ानूनों में ‘गौमांस’ की परिभाषा एक समान नहीं है व प्रतिबन्ध का चरित्र भी अलग है। कई राज्य हैं जो अपने क़ानूनों में उपयोगी पशु और बेकार पशुओं के बीच अन्तर करते हैं। महाराष्ट्र में 1976 तक गाय की हत्या व गाय का मांस प्रतिबन्धित था, लेकिन यह क़ानून 1995 में बदल दिया

गया और महाराष्ट्र एनिमल प्रिज़र्वेशन (अमेण्डमेण्ट) बिल के तहत भैंस और बैल के मांस को भी प्रतिबन्धित श्रेणी में ले आया गया, पर नर भैंसों को मारने पर पाबन्दी नहीं थी। गोवा व आन्ध्र प्रदेश में ‘गाय’ की परिभाषा में दुधारू गाय व गाय के पुरुष व मादा बछड़े आते हैं। कुछ राज्यों जैसे कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, गोवा व मध्य प्रदेश में 12-15 वर्ष से अधिक आयु के पशु या दूध व प्रजनन के लिए अयोग्य वयस्क भैंसों व बैलों को ‘फिट फ़ॉर स्लॉटर’ सर्टिफ़िकेट लेकर मारने की इजाज़त है। असम, केरल, कर्नाटक और बंगाल में ‘फिट फ़ॉर स्लॉटर’ सर्टिफ़िकेट लेकर केवल बैल या भैंस ही नहीं बल्कि गाय मारने की भी अनुमति है। अरुणाचल प्रदेश, मिज़ोरम, मेघालय व नागालैण्ड में इससे सम्बन्धित कोई क़ानून नहीं है।

लेकिन संघ परिवार इन क़ानूनों से सन्तुष्ट नहीं था और वे जानते थे कि कट्टरपन्थियों के लिए कड़े प्रतिबन्ध की माँग का मतलब है छाप मारने, गिरफ़्तारियाँ करवाने और अल्पसंख्यक ख़ास तौर पर मुसलमानों, दलितों, अनुसूचित जनजातियों के खिलाफ़ संगठित हिंसा के दरवाज़े खोलना। और यही उन्होंने किया भी! इसी मुद्दे को 2014 के चुनाव में भाजपा ने एक बड़ा मुद्दा बनाया। इसी को अमल में लाते हुए मार्च 2015 में महाराष्ट्र व हरियाणा में गौहत्या प्रतिबन्ध क़ानूनों को पारित करने व उनमें संशोधन करने का सिलसिला शुरू हुआ। इस बार गौहत्या के इन क़ानूनों में जो नयी बात थी, वह है सज़ा व जुर्माने में की गयी वृद्धि! पहले हरियाणा में गौहत्या के लिए अधिकतम सज़ा 5 साल या 5 हज़ार रुपये का जुर्माना या दोनों थे। लेकिन नये क़ानून में न्यूनतम सज़ा तीन वर्ष का कठोर कारावास, जोकि दस साल तक बढ़ाया जा सकता है व तीस हज़ार रुपये से लेकर एक लाख रुपये तक जुर्माने का प्रावधान है। गाय की परिभाषा के तहत बैल, भैंस, गाय व बछड़ा और बूढ़ी व बीमार गायें भी शामिल हैं। वहीं गुजरात में 2011 में जो क़ानून सात साल की जेल व 50,000 रुपये जुर्माने का प्रावधान देता था, वह 2017 में एक नया बिल पास होने के बाद कम-से-कम 10 साल की सज़ा और ज़्यादा-से-ज़्यादा आजीवन कारावास तक का प्रावधान कर दिया गया है और जुर्माने की क़ीमत 1-5 लाख तक कर दी गयी है! गुजरात के हालिया संशोधन से पहले, जम्मू-कश्मीर में गौहत्या का सबसे कठोर दण्ड का प्रावधान था। महाराष्ट्र एनिमल प्रिज़र्वेशन एक्ट 1976 में भी इसी प्रकार की सज़ा व जुर्माने का प्रावधान था, जो अब 5 से बढ़कर 10 साल कारावास कर दिया गया है। विडम्बना की बात यह है कि अब गौहत्या की सज़ा की अवधि बलात्कार जैसे संगीन अपराधों की अवधि (7 साल) से भी अधिक है!

और इन सबसे काम न चला तो इस साल के मई महीने में मोदी सरकार

गौरक्षा का गोरखधन्धा - फ़्रासीवाद का असली चेहरा

(पेज 13 से आगे)

ने प्रिवेंशन ऑफ़ क्रुएल्टी टू एनिमल्स एक्ट 1960 में एक नये क्लॉज को जोड़ा, जिसके तहत पूरे देश में गाय केवल कृषि प्रयोजनों के लिए बेची जा सकती हैं, न कि वध करने के लिए। नये क़ानून में यह भी कहा गया है कि योग्य, पुरानी या अयोग्य गायों को बेचा नहीं जा सकता है। इस नये नियम में 'मवेशियों' में बैल, गाय, भैंस, स्टीयर, हेइफ़र्स और बछड़ों सहित ऊष्ट भी शामिल हैं। साथ ही रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि जानवरों के बाज़ार, जो आमतौर पर सीमा के पास अधिकांश राज्यों में आयोजित होते हैं, को अब स्थानान्तरित किया जाना चाहिए क्योंकि नये नियमों ने उन्हें अन्तरराष्ट्रीय सीमा के 50 किलोमीटर और राज्य सीमा के 25 किलोमीटर में प्रतिबन्धित कर दिया है। गाय के संरक्षण के लिए लागू किया गया यह पहला केन्द्रीय विनियमन है।

ऐसे क़ानूनों ने हिन्दुत्व गिरोह के शासन वाले राज्यों में एक होड़ पैदा कर दी है। गौरक्षा के मुद्दे को क़ानूनी जामा पहनाकर भाजपा गौरक्षक दलों को गाय पर ताण्डव करने की खुली छूट देने का काम कर रहा है। 2011-14 के बीच गुजरात में ऐसे गौरक्षक दलों की संख्या में काफ़ी बढ़ोतरी देखने को मिलती है। सरकारी वेबसाइट गौसेवा व गौचर विकास बोर्ड के अनुसार गुजरात की मोदी सरकार ने 1,394 गौरक्षकों को 75 लाख रुपये इनाम में दिये थे। उनकी सरकार ने कई क्रिस्म की योजनाएँ लागू कीं, जिससे इस प्रकार के गौरक्षक दल और फलने-फूलने लगे, उदाहरण के तौर पर पशु तस्करों के खिलाफ़ हर एफ़आईआर कराने वाले को 500 रुपये का नक़द इनाम। वेबसाइट के अनुसार गौसेवा व गौचर विकास बोर्ड (जोकि पशुपालन विभाग के तहत स्थापित किया गया एक सरकारी बोर्ड है) का मुख्य काम गौरक्षक दलों के साथ मिलकर ऐसे तमाम तस्करों का पर्दाफ़ाश करना था। और अब हरियाणा में बैठी खट्टर सरकार भी कुछ ऐसे ही काम कर रही है!

एक तरफ़ भाजपा ने क़ानूनी जामा पहनाकर कट्टरपन्थी ताक़तों के लिए संगठित हिंसा के दरवाज़े खोल दिये हैं और दूसरी तरफ़ आरएसएस और ये तमाम फ़ासिस्ट ताक़तें कई प्रकार के कैडर-आधारित ढाँचों व मीडिया और अपने प्रचार तन्त्र के ज़रिये ज़मीनी स्तर पर लगातार लोगों के बीच एक ऐसी 'मिथ्या चेतना' का निर्माण कर रहे हैं जो भीड़ के रूप में हिंसा का खेल खेल रही है। 'पवित्र गाय' के मामले में ऐसे ही कई प्रकार के झूठ का प्रचार संघ जगह-जगह फैला रहा है, जैसेकि यह कि सभी हिन्दू गौहत्या और गौमांस के सेवन के खिलाफ़ हैं या हिन्दू संस्कृति और परम्परा ने हमेशा से गौहत्या को अपवित्र माना है। यह बात सही है कि हिन्दुओं में कुछ जाति और समुदाय गाय को पूज्य और गौहत्या को निकृष्ट मानते हैं, लेकिन यह भी सच है कि यह मत आज या पहले के दौर में, भारत में रह

रहे सभी हिन्दू समुदायों और जातियों का नहीं रहा है।

संघ परिवार का 'पवित्र' गाय का मिथक

संघ परिवार द्वारा फैलाया जा रहा पहला झूठ यह है कि हिन्दू संस्कृति ने हमेशा से गौहत्या को निकृष्ट माना है। संघ ने भारत में गौमांस खाने की प्रथा को इस्लाम के आने के साथ जोड़ने की कोशिश की है (ध्यान देने योग्य बात है कि मुग़ल सम्राट बाबर, अकबर, जहांगीर और औरंगजेब ने जैन और ब्राह्मण्यपूर्ण संवेदनाओं को समायोजित करने के लिए गौहत्या पर प्रतिबन्ध लगाया था) और गौमांस के सेवन को मुस्लिम समुदाय के पहचान-चिन्ह के साथ जोड़ने का प्रयास लगातार करते रहे हैं। और लोगों के बीच यह झूठ फैलाने का काम संघ बख़ूबी कर रहा है कि मुस्लिम समुदाय में गौमांस खाने की प्रथा इसलिए शुरू की गयी है, क्योंकि मुसलमान हमेशा हिन्दू संस्कृति के विरुद्ध जाते हैं और हिन्दू संस्कृति ने आदि काल से गाय को पवित्र व गौहत्या को निकृष्ट व पाप समझा है।

भारत में इस्लाम के आने से काफ़ी समय पहले से ही गौमांस खाने की प्रथा का प्रचलन था। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में पर्याप्त सबूत मौजूद हैं जो यह साबित करते हैं कि गौमांस खाने की प्रथा भारत में कई शताब्दियों से प्रचलित रही है। वैदिक काल में [लगभग 800-1500 ई.पू.] भारत में 'पवित्र' गाय जैसी कोई अवधारणा मौजूद नहीं थी। वैदिक आर्यों द्वारा धार्मिक कर्मकाण्ड में अक्सर गाय की बलि चढ़ाई जाती थी। इस विषय पर डी.एन. झा की पुस्तक 'द मिथ ऑफ़ द होली काऊ' में काफ़ी विस्तृत चर्चा की गयी है व तथ्यों के साथ यह साबित किया गया है कि हिन्दू संस्कृति ने हमेशा से गौहत्या को निकृष्ट नहीं माना है।

इसके भाषाई व पुरातात्विक स्रोत मौजूद हैं कि वैदिक काल में पशुओं की बलि चढ़ाई जाती थी, जिसे 'पासुबन्ध' कहा जाता था। ऋग्वेद में अक्सर देवताओं द्वारा बैल की बलि चढ़ाए जाने की बात की गयी है। ऋग्वेद में एक जगह 'इन्द्र' जोकि वैदिक देवताओं में सबसे पूजनीय थे, यह कहते हैं कि 'वे मेरे लिए 15 से अधिक बैलों की बलि चढ़ाते थे'। ऋग्वेद के ही अनुसार, 'अग्नि देवता' का भोजन बैल व बंजर गायें थीं। एक अध्याय में यह बात आयी है कि मृतकों के दाह-कार्य के दौरान शरीर को जलने से बचाने के लिए गाय के मांस का प्रयोग किया जाता था। उत्तर वैदिक काल में भी पशु वध प्रचलित था। 'मित्र' व 'वरुण' को गाय की बलि चढ़ाने का जिक्र हमें उत्तर वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। और ज़्यादातर यज्ञों जैसे अश्वमेध यज्ञ या राजसूय यज्ञ में जानवरों की बलि चढ़ाई जाती थी, जिसमें खासतौर पर गाय, बैल व भैंस शामिल थे। अग्नेय्याय एक प्रथा थी, जो किसी भी सार्वजनिक बलि प्रथा से पहले की जाती थी और उसमें गाय की बलि चढ़ाना अनिवार्य माना जाता था। शतपथ ब्राह्मण सहित

कई वैदिक ग्रन्थों ने यह घोषित किया कि मांस सबसे अच्छे प्रकार का भोजन है। महाभारत में रन्तिदेव नाम के एक राजा का उल्लेख है जो ब्राह्मणों में खाद्य वस्तु और बीफ़ वितरित करने के लिए प्रसिद्ध था। मनुस्मृति में भी मांस खाने पर कोई रोक नहीं है। देवताओं व मेहमानों के सम्मान में मांस का सेवन प्रचलित था, हालाँकि आम मौकों पर मांस खाना सही नहीं माना जाता था। पुराण (जिसका संकलन ईसाई सदियों से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक किया गया था) में भी इसी प्रकार के कई साक्ष्य मिलते हैं। उस दौरान भी मांस खाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। यद्यपि नारायणः पुराण में मेहमानों के सम्मान में की जाने वाली गौहत्या (जोकि काफ़ी प्रचलित प्रथा थी) पर रोक थी, पर वह भी एक अस्वीकृत से अधिक कुछ नहीं था।

बौद्ध ग्रन्थों में यह पाया गया है कि बुद्ध के काल के दौरान भी गौमांस खाना प्रचलित था। हालाँकि बुद्ध खुद पशु हत्या के खिलाफ़ थे। लेकिन धार्मिक कर्मकाण्डों में पशुवध एक प्रचलित प्रथा थी। पहली सहस्राब्दी के बीच धर्मशास्त्रों में गौहत्या के प्रति अस्वीकृत देखने को मिलती है। इसके पीछे का कारण है मध्ययुगीन काल में ग्रामीण व्यवस्था में हुए कई परिवर्तन - जब अप्रत्याशित रूप से कृषि में विस्तार हुआ और व्यापार संकुचित होने लगा! कृषि जो पहले सिर्फ़ वैश्यों का व्यवसाय मानी जाती थी, अब उन्हीं तक सीमित नहीं रही। पुजारियों को भूमि दान दिया जाने लगा था व कृषि का पेशा अन्य जाति, जिसमें ब्राह्मण जाति भी शामिल थी, अपना लगी। इस प्रकार कृषि व पशुपालन इकॉनमी में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे। और अब वैदिक बलिदान की प्रथा के बदले ज़मीन या पशु दान करने की प्रथा प्रचलन में आयी, जिस कारण पशु वध को रोकने के लिए पशुहत्या को निकृष्ट मानने की मानसिकता बैठाई जाने लगी व उस पर रोक लगाने की बात हुई। पर इस काल के दौरान भी कई जगह धार्मिक कार्यों के लिए पशुवध व गौहत्या के सबूत मिलते हैं। और इस दौरान भी गौहत्या को दण्ड की श्रेणी में नहीं रखा गया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कैसे गौहत्या प्राच्य काल से हिन्दू संस्कृति में निकृष्ट नहीं माती गयी है। यहाँ तक कि मनुस्मृति व पुराणों में इसके बिलकुल उलट बात की गयी है। और बाद के वक्रतों में भी इस पर रोक तो लगायी गयी थी, लेकिन फिर उसका उल्लंघन करने पर कोई दण्ड का प्रावधान नहीं था! इस पर ज़्यादा विस्तार से जानने के लिए ऊपर उल्लेखित डी.एन. झा की किताब पढ़ी जा सकती है।

आज भी सिर्फ़ मुसलमान ही गौमांस नहीं खाते, बल्कि हिन्दू धर्म में भी कई जातियाँ गौमांस खाती हैं। केरल में 72 ऐसी जातियाँ हैं, जिनमें से कई हिन्दू भी हैं, जो गौमांस खाती हैं। और इसके अलावा कई निचली कही जाने वाली जातियाँ गौमांस खाती हैं। आमतौर पर दलित, आदिवासी और शुद्र समुदाय के

निचले तबके मांस खाते हैं। और गौमांस के अपेक्षाकृत प्रोटीन का सबसे सस्ता स्रोत होने के कारण वे इस पर निर्भर हैं। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि भारत दुनिया में गौमांस खाने वाले देशों में सातवें स्थान पर है।

गौमांस प्रतिबन्ध क़ानून के आर्थिक व सामाजिक परिणाम

2014 में चुनाव के वक्रत ही गौमांस प्रतिबन्ध लागू करवाना भाजपा के प्रमुख मुद्दों में से एक मुद्दा था। मोदी सरकार का पिंक रेवोल्यूशन पर रोक लगाने का यह तर्क देना कि यह "गायों का विनाशकारी वध" का कारण बन रहा है, बिलकुल झूठ बात साबित हुआ - 2012 में मवेशियों की जनगणना से पता चलता है कि भारत में गायों की संख्या में 6.2 प्रतिशत की वृद्धि हुई है! यह शायद ही गायों के बड़े पैमाने पर वध करने का संकेत देता है! उल्टे खुद भाजपा के शासनकाल में बीफ़ का निर्यात 23% रहा था। भारत ने 2.4 करोड़ टन भैंस के मांस को 2014-15 में 65 देशों में निर्यात किया, यह 30,000 करोड़ रुपये था, जो भारत के कुल निर्यात का 1% हिस्सा था - "पिंक रिवोल्यूशन" का हिस्सा! गौरक्षा का ढोल पीटने वाली भाजपा, जिसने हरियाणा, गुजरात व महाराष्ट्र में गौरक्षा क़ानूनों में बदलाव कर सज़ा व जुर्माने में वृद्धि की, अब मेघालय के विधानसभा चुनावों को देखते हुए वहाँ पर बीफ़ को सस्ता करने की बात कर रही है!

वैसे तो पहले से ही भाजपा शासित राज्यों में गौमांस प्रतिबन्ध क़ानून में बदलाव ने बीफ़ उद्योग और चमड़े के उद्योग को काफ़ी नुक़सान पहुँचाया है। मई में भाजपा सरकार ने केन्द्रीय स्तर पर प्रिवेंशन ऑफ़ क्रुएल्टी टू एनिमल्स एक्ट 1960 में एक नये क्लॉज को जोड़ दिया (जिसके अनुसार उन्हीं मण्डियों में जानवरों की खरीद-बिक्री होगी, जो रजिस्टर्ड हैं और उसमें भी गाय केवल कृषि प्रयोजनों के लिए बेची जा सकती है, न कि वध करने के लिए), तो इससे निर्यात, रोज़गार व बीफ़ उद्योग और चमड़े के उद्योग बड़े स्तर पर प्रभावित हुए हैं। जब भारत सरकार ने 23 मई को 'असाधारण' अधिसूचना जारी की व पशु बाज़ारों में मारे जाने के लिए पशुओं की बिक्री पर रोक लगायी तो इसका सबसे ज़्यादा असर मांस उद्योग पर देखने को मिला जो अपनी आपूर्ति का 90% हिस्सा इन्ही मण्डियों से पाता है। साथ ही चमड़े के उद्योग को भी कच्चे माल की आपूर्ति न होने के कारण भारी नुक़सान उठाना पड़ रहा है। एक ऐसा उद्योग जिसमें 2006 से 2011 तक 8.2 प्रतिशत की संचयी वार्षिक वृद्धि दर देखी गयी। लेकिन अब निर्यात में तेज़ गिरावट आयी है। यह उद्योग 25 लाख लोगों को रोज़गार प्रदान करता है, उनमें से अधिकांश अनुसूचित जाति हैं। करीब आठ लाख दलित मृत मवेशियों की त्वचा के कारोबार पर जीते हैं पर अब हिन्दुत्व ब्रिगेड द्वारा अफ़वाहों के बल पर बढ़ती माँब लिंगिंग की घटनाओं के

कारण न सिर्फ़ दलित बल्कि इस उद्योग के साथ जुड़े ठेकेदारों, ट्रक चालक, व्यापारी और अन्य सभी बड़ी मात्रा में प्रभावित हुए हैं। चमड़े का उत्पादन करने वाली छोटी फ़ैक्ट्रियाँ जो मुख्यतः दलितों को इस काम के लिए नियुक्त करती थीं, अब उन्हें काम से निकाल रही हैं। और घरेलू स्तर पर इस उद्योग में काम करने वाले लोगों की आजीविका भी ख़तरे में है। दूसरी तरफ़ सरकार ने गाय/बैल के चमड़े को शून्य प्रतिशत ड्यूटी पर आयात की अनुमति दे दी है।

वहीं दूसरी तरफ़ यह किसानों की भी दुर्दशा का कारण बन रहा है। ज़्यादातर किसान बूढ़े व बीमार मवेशियों को ठेकेदारों को बेच देते हैं ताकि वे उस पैसे का इस्तेमाल कर नयी गायें ले सकें। अब नयी गायों को ख़रीदना तो दूर, उल्टे पशुवध पर पूर्ण प्रतिबन्ध के कारण अब किसानों को मवेशियों के रखरखाव का अलग से ख़र्च (जोकि हर साल करीब 36,000 रुपये पड़ेगा) उठाना होगा। सरकार पहले से ही क़र्ज़ में डूबे किसानों की बात सुनने की बजाय उन पर और बोझ लादे जा रही है।

इस प्रतिबन्ध से मुस्लिम और हिन्दू दोनों ही अपनी आजीविका खो रहे हैं। वैसे तो संघ द्वारा यह प्रचार किया जाता है कि मुस्लिम ही मुख्यतः मांस का सेवन करते हैं, पर विभिन्न राज्यों में मुसलमानों की तुलना में, दलितों, आदिवासियों और अन्य पिछड़ी जातियों के समुदाय गौमांस ज़्यादा खाते हैं। एनएसएसओ के अनुमान के मुताबिक, देश में 5.2 करोड़ लोग, मुख्य रूप से दलित और आदिवासी और विभिन्न समुदायों के ग़रीब लोग, गौमांस/भैंस का मांस खाते हैं। साफ़ है कि बीफ़ की खपत के मुद्दे को भी यहाँ वर्ग के आधार पर देखा जाना चाहिए। एक तरफ़ यह क़दम सीधे ग़रीबों को प्रोटीन पोषण के अपेक्षाकृत सस्ते स्रोत से वंचित कर रहा है, वहीं दूसरी ओर सत्ता में बैठे लोगों की मिलीभगत द्वारा समर्थित हिन्दू ब्रिगेड का यह आतंक अभियान, लाखों लोगों की आजीविका और उद्योग को पूरी तरह से मार रहा है।

मुश्किल वक्रत - गाय कमाण्डो सख्त!

इतने बड़े स्तर पर गौरक्षा का सवाल उठाने की ज़रूरत को संघ परिवार क्यों महसूस करता है? न सिर्फ़ गौरक्षा बल्कि इतिहास से देखें तो अडवानी की रथ यात्रा, बाबरी मस्जिद ध्वंस और गुजरात 2002 और अब फ़्रासीवाद के सत्ता में आने के बाद से जारी राजकीय हिंसा, राज्य-प्रायोजित दंगे, गुण्डा वाहिनियों की हिंसा, अन्धराष्ट्रवाद का ज़हर और अब माँब-लिंगिंग की घटनाएँ! ये सब एक कड़ी के रूप में जुड़ी हुई हैं। लोकलुभावन जुमलेबाजी कर मोदी सरकार सत्ता में आ तो गयी, लेकिन 3 साल के अपने कार्यकाल के दौरान जनता के सामने में यह चीज़ साफ़ हो गयी कि भाजपा का असली मक़सद मुश्किल वक्रत से गुज़र रहे पूँजीवाद की और बेहतर तरीक़े से सेवा करना था।

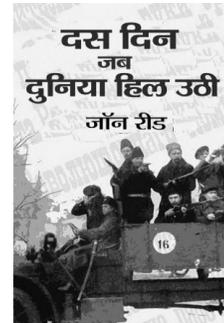
अक्टूबर क्रान्ति



“अब हम समाजवादी व्यवस्था का निर्माण शुरू करेंगे!”

“मैं दुनिया के मज़दूरों को निस्संकोच सलाह दूँगा कि वे इस पुस्तक को पढ़ें। यह एक ऐसी किताब है, जिसके लिए मैं चाहूँगा कि वह लाखों-करोड़ों प्रतियों में प्रकाशित हो और इसका सभी भाषाओं में अनुवाद किया जाये। सर्वहारा क्रान्ति तथा सर्वहारा अधिनायकत्व वास्तव में क्या है, इसको समझने के लिए जो घटनाएँ इतनी महत्वपूर्ण हैं, उनका इस पुस्तक में सच्चा और जीता-जागता चित्र दिया गया है।”

ये शब्द लेनिन के हैं और वे यहाँ अमेरिकी पत्रकार जॉन रीड की पुस्तक ‘दस दिन जब दुनिया हिल उठी’ की बात कर रहे हैं। यह पुस्तक अक्टूबर क्रान्ति के शुरुआती दिनों का एक सजीव तथा शक्तिशाली वर्णन प्रस्तुत करती है। इसी पुस्तक से प्रस्तुत है एक अंश।



जॉन रीड

ठीक आठ बजकर चालीस मिनट हुए थे, जब तालियों की गड़गड़ाहट के साथ सभापतिमण्डल के सदस्यों ने प्रवेश किया। उनमें लेनिन - महान लेनिन भी थे। नाटा क्रद, गठा हुआ शरीर, भारी सिर - गंजा, उभरा हुआ और मज़बूती से गर्दन पर बैठा हुआ। छोटी-छोटी आँखें, चिपटी सी नाक, काफ़ी बड़ा, फैला हुआ मुँह और भारी ठुड्डी; दाढ़ी फ़िलहाल सफ़ाचट, लेकिन पहले के और बाद के वर्षों की उनकी मशहूर दाढ़ी अभी से उगने लगी थी। पुराने कपड़े पहने हुए, जिनमें पतलून उनके क्रद को देखते हुए खासकर लम्बी थी। चेहरे-मोहरे से वह जनता के आराध्य नहीं लगते थे, फिर भी उन्हें जितना प्रेम और सम्मान मिला, उतना इतिहास में बिरले ही नेताओं को मिला होगा। एक विलक्षण जन-नेता, जो केवल अपनी बुद्धि के बल पर नेता बने थे। तबियत में न रंगीनी न लताफ़त, न ही कोई ऐसी स्वभावगत विलक्षणता, जो मन को आकर्षित करती। वह दृढ़, अविचल तथा अनासक्त आदमी थे, परन्तु उनमें गहन विचारों को सीधे-सादे शब्दों में समझने की और किसी भी ठोस परिस्थिति को विश्लेषित करने की अपूर्व क्षमता थी। और उनमें सूक्ष्मदर्शिता के साथ-साथ बौद्धिक साहसिकता कूट-कूटकर भरी थी।

कामेनेव सैनिक क्रान्तिकारी समिति की कार्यवाहियों के बारे में रिपोर्ट पेश कर रहे थे : सेना में मृत्यु-दण्ड समाप्त कर दिया गया, प्रचार-स्वातन्त्र्य को फिर से पुनःस्थापित किया गया है और राजनीतिक अपराधों के लिए गिरफ़्तार अफ़सरों और सिपाहियों को रिहा कर दिया गया है, केरेन्स्की को गिरफ़्तार करने का और निजी गोदामों में जमा अनाज की जब्ती का हुकम जारी किया गया है... बड़े ज़ोर की तालियाँ।

बुन्द का प्रतिनिधि फिर बोलने के लिए खड़ा हुआ - बोल्शेविकों के कट्टर रूख का नतीजा यह होगा कि क्रान्ति कुचल दी जायेगी। इसलिए बुन्द प्रतिनिधि कांग्रेस में भाग लेने से इंकार करते हैं। हाल से आवाज़ें, “...हमने तो समझा था कि आप लोग कल रात ही निकल गये! आप लोग कितनी बार सभा त्याग करेंगे?”

इसके बाद मेन्शेविक-अन्तरराष्ट्रीयतावादियों के प्रतिनिधि आवाज़ें, “हैं! आप अभी यहाँ मौजूद हैं?” वक्ता ने सफ़ाई देते हुए कहा कि सभी मेन्शेविक-अन्तरराष्ट्रीयतावादियों ने कांग्रेस का परित्याग नहीं किया है, कुछ चले गये और बाक़ी कांग्रेस में भाग लेने वाले हैं।

“हम समझते हैं कि सत्ता सोवियतों के हाथ में अन्तर्गत करना क्रान्ति के लिए खतरनाक है और सम्भवतः सांघातिक भी...” बीच में आवाज़ें, शोरा। “लेकिन फिर भी हम अपना यह कर्तव्य समझते हैं कि कांग्रेस में मौजूद रहें और इस अन्तरण के विरुद्ध वोट दें।”

और भी लोग बोले, परन्तु प्रगतः किसी क्रम से नहीं। दोन प्रदेश के खान मज़दूरों के एक प्रतिनिधि ने माँग की कि कांग्रेस कलेदिन के खिलाफ़ कार्यवाही करे, जो राजधानी को होने वाली कोयले और अनाज की सप्लाई की लाइन को काट सकता है। मोर्चे से अभी-अभी पहुँचने वाले कई सिपाहियों ने कांग्रेस को अपनी-अपनी रेजीमेण्टों का उत्साहपूर्ण अभिवादन सन्देश दिया... और बाद में लेनिन बोलने के लिए खड़े हुए। मिनटों तक तालियों की गड़गड़ाहट होती रही, लेकिन वह ज़ाहिरा उससे बेखबर लोगों के ख़ामोश हो जाने का इन्तज़ार करते हुए खड़े रहे - अपने सामने रीडिंग-स्टैंड को पकड़े, वह अपनी छोटी-छोटी, मिचमिचाती आँखों से भीड़ को एक सिरे से दूसरे सिरे तक देख रहे थे। जब तालियाँ बन्द हुईं, उन्होंने निहायत सादगी से बस इतना ही कहा, “अब हम समाजवादी व्यवस्था का निर्माण शुरू करेंगे!” और फिर जनसमुद्र का वही प्रचण्ड गर्जना।

“पहला काम है शान्ति सम्पन्न करने के लिए अमली कार्यवाही करना... हम सोवियत शर्तों के आधार पर सभी युद्धरत देशों की जनता से शान्ति का प्रस्ताव करेंगे। ये शर्तें हैं बग़ैर संयोजनों के, बग़ैर हरजानों के और जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार के साथ शान्ति। साथ ही, अपने वादे के मुताबिक़ हम गुप्त सन्धियों को प्रकाशित करेंगे और उन्हें रद्द करेंगे... युद्ध और शान्ति का प्रश्न इतना स्पष्ट है कि मेरा खयाल है कि मैं बिना किसी प्रस्तावना के सभी युद्धरत देशों के जनों के नाम घोषणा के मसौदे को पढ़ सकता हूँ...”

जब वह बोल रहे थे, उनका चौड़ा मुँह पूरा खुला था और उस पर जैसे हँसी खेल रही थी। उनकी आवाज़ भारी थी, मगर सुनने में बुरी

नहीं थी - लगता था कि सालों तक बोलते रहने से यह आवाज़ सख्त हो गयी हो। वह एक ही लहजे में बोलते रहे और सुनने वाले को यह महसूस होता था कि वह हमेशा, हमेशा ऐसे ही बोलते रह सकते हैं और उनकी आवाज़ कभी भी बन्द होने वाली नहीं है... अपनी बात पर ज़ोर देना होता, तो वह बस ज़रा सा आगे की ओर झुक जाते। न अंगविक्षेप, न भावभंगी। और उनके सामने एक हजार सीधे-सादे लोगों के एकाग्र मुखड़े श्रद्धा और भक्ति से उनकी ओर उठे हुए थे। जब तालियों की गड़गड़ाहट शान्त हुई, लेनिन ने फिर बोलना शुरू किया :

“हम प्रस्ताव करते हैं कि कांग्रेस इस घोषणा का अनुसमर्थन करे। हम जनता का सम्बोधन करते हैं और सरकारों का भी, क्योंकि यदि हमारी घोषणा युद्धरत देशों की जनता के नाम ही हो, तो उससे शान्ति-सन्धि सम्पन्न करने में विलम्ब हो सकता है। युद्ध-विराम काल में शान्ति-सन्धि की जो शर्तें विवर्त की जायेंगी, संविधान सभा उनका अनुसमर्थन करेगी। युद्ध-विराम की अवधि तीन महीना निश्चित करने में हमारी मंशा यह है कि इस खून-खराबे और मारकाट के बाद जनता को यथासम्भव अधिक से अधिक विराम मिल सके और उसे अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करने के लिए प्रचुर समय मिल सके। साम्राज्यवादी सरकारें हमारे इस शान्ति-प्रस्ताव का विरोध करेंगी - हमें इसके बारे में कोई मुग़ालता नहीं है। परन्तु हम आशा करते हैं कि सभी युद्धरत देशों में क्रान्तियाँ जल्द ही भड़क उठेंगी, यही कारण है कि हम फ़्रांस, इंग्लैण्ड और जर्मनी के मज़दूरों का विशेष रूप से सम्बोधन करते हैं...”

उन्होंने अपना भाषण इन शब्दों के साथ ख़त्म किया, “छह तथा सात नवम्बर की क्रान्ति ने समाजवादी क्रान्ति के युग का सूत्रपात किया है... शान्ति तथा समाजवाद के नाम पर मज़दूर आन्दोलन जीतेगा और अपने भवितव्य को चरितार्थ करेगा...”

इन शब्दों में एक ऐसी अद्भुत निष्कम्प शक्ति थी, जो प्राणों को आलोलित करती थी। इसे आसानी से समझा जा सकता है कि क्यों जब लेनिन बोलते थे, लोग उनकी बात पर विश्वास करते थे...

लोगों ने हाथ उठाकर यह तुरन्त फ़ैसला कर दिया कि केवल राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों को ही प्रस्ताव पर बोलने की इजाज़त दी जानी चाहिए, और हर भाषणकर्ता के लिए पन्द्रह मिनट का समय बाँध देना चाहिए।

सबसे पहले वामपन्थी समाजवादी-क्रान्तिकारियों की ओर से करेलिन बोले : “हमारे दल को घोषणा के मज़मून में संशोधन पेश करने का कोई मौक़ा नहीं मिला है। घोषणा बोल्शेविकों की निजी दस्तावेज़ है। फिर भी हम उसके पक्ष में वोट देंगे, क्योंकि हम उसकी भावना से सहमत हैं...”

सामाजिक-जनवादी अन्तर-राष्ट्रीयतावादियों की ओर से कामारोव उठे। लम्बा क्रद, कन्धे कुछ झुके हुए, आँखें समीप-दर्शी - यह थे कामारोव, जो आने वाले दिनों में विरोध पक्ष के विदूषक के रूप में शोहरत हासिल करने वाले थे। उन्होंने कहा कि सभी समाजवादी पार्टियों द्वारा बनायी गयी सरकार ही एक ऐसा महत्वपूर्ण क्रम उठाने का अधिकार रख सकती है। अगर एक संयुक्त समाजवादी मन्त्रिमण्डल बनाया जाये, तो उनका दल समूचे कार्यक्रम का समर्थन करेगा, नहीं तो वह उसके एक भाग का ही समर्थन करेगा। जहाँ तक घोषणा का प्रश्न है, अन्तरराष्ट्रीयतावादी उसकी मुख्य बातों से पूरी तरह सहमत हैं...

और तब उत्तरोत्तर बढ़ते हुए उत्साह के बीच एक वक्ता के बाद दूसरा वक्ता बोला : उक्रइनी सामाजिक-जनवाद की ओर से - समर्थन; लिथुआनियाई सामाजिक-जनवाद की ओर से - समर्थन; जन-समाजवादी - समर्थन; पोलिश सामाजिक-जनवाद - समर्थन; पोलिश समाजवादी - समर्थन, परन्तु उनकी दृष्टि में संयुक्त समाजवादी मन्त्रिमण्डल अधिक श्रेयस्कर होगा; लाटवियाई सामाजिक-जनवाद-समर्थन... इन आदमियों में जैसे कोई ज्योति जग गयी थी। एक ने “आसन्न विश्वक्रान्ति, जिसके हम अगले दस्त हैं,” की बात की; दूसरे ने उस “नये भ्रातृत्वपूर्ण युग” की बात की, “जब संसार के सभी जन एक परिवार जैसे हो जायेंगे...” एक प्रतिनिधि ने व्यक्तिगत रूप से बोलने की अनुमति माँगी। “घोषणा में एक अन्तर्विरोध है,” उसने कहा। “पहले आप बग़ैर संयोजनों और हरजानों के शान्ति प्रस्ताव

करते हैं और फिर आप कहते हैं कि आप शान्ति के सभी प्रस्तावों पर विचार करेंगे। विचार करने का अर्थ है ग्रहण करना...”

लेनिन उठ खड़े हुए। “हम न्याय शान्ति चाहते हैं, पर हम क्रान्तिकारी युद्ध से घबराते नहीं... साम्राज्यवादी सरकारें सम्भवतः हमारी अपील का उत्तर नहीं देंगी, परन्तु हम कोई अल्टीमेटम नहीं जारी करेंगे, जिसे ठुकरा देना आसान होगा... अगर जर्मन सर्वहारा यह समझ ले कि हम शान्ति के सभी प्रस्तावों पर विचार करने के लिए तैयार हैं, तो शायद यह बारूद में चिंगारी का काम करे - और जर्मनी में क्रान्ति भड़क उठे...”

“हम शान्ति की सभी शर्तों पर ग़ौर करने के लिए राजी हैं, मगर इसका मतलब यह नहीं है कि हम उन शर्तों को मंजूर भी कर लेंगे... अपनी कुछ शर्तों के लिए हम अन्त तक लड़ेंगे, लेकिन हो सकता है कि दूसरी शर्तों की ख़ातिर हम लड़ाई चलाते जाना असम्भव पायेंगे... सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हम लड़ाई ख़त्म करना चाहते हैं...”

ठीक दस बजकर पैंतीस मिनट पर कामेनेव ने कहा कि वे जो लोग घोषणा के पक्ष में हैं, वे अपने कार्ड दिखायें। केवल एक प्रतिनिधि ने विरोध में अपना हाथ उठाने की ज़रूरत की, लेकिन इस पर चारों ओर लोगों में इतना गुस्सा भड़क उठा कि उसने भी अपना हाथ जल्दी से नीचे कर लिया... घोषणा सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गयी।

सहसा हम सब एक ही सहज प्रेरणा के वशीभूत होकर उठ खड़े हुए और ‘इण्टरनेशनल’ का मुक्त, निर्बाध, आरोही स्वर हमारे कण्ठों से फूट निकला। एक पुराना, खिचड़ी बालों वाला सिपाही बच्चे की तरह फूट-फूटकर रो पड़ा। अलेक्सान्द्रा कोल्लोन्ताई ने जल्दी से अपने आँसुओं को रोका। एक हजार कण्ठों से निकली यह प्रबल ध्वनि सभा भवन में तरंगित होकर खिड़कियों-दरवाज़ों से बाहर निकली और ऊपर उठती गयी, ऊपर उठती गयी और निभूत आकाश में व्याप्त हो गयी। “लड़ाई ख़त्म हो गयी! लड़ाई ख़त्म हो गयी!” मेरे पास खड़े एक नौजवान मज़दूर ने कहा, जिसका चेहरा चमक रहा था। और जब यह गान समाप्त हो गया और हम वहाँ निस्तब्ध खोये से खड़े थे, हॉल के पीछे से किसी ने आवाज़ दी, “साथियों, हम उन लोगों की याद करें, जिन्होंने आज़ादी के लिए अपना जीवन बलिदान कर दिया!” और इस प्रकार हमने शोकगान ‘शवयात्रा’ गाना शुरू किया, जिसका स्वर धीमा और उदास होते हुए भी विजयपूर्ण था। यह था दिल को हिला देने वाला एक ठेठ रूसी गाना। कुछ भी हो, ‘इण्टरनेशनल’ का राग विदेशी ही ठहरा, परन्तु ‘शवयात्रा’ में उस विशाल जनता के प्राणों की गूँज थी, जिसके प्रतिनिधि इस हॉल में बैठे थे और अपनी धुँधले-धुँधले मानस-चित्र के आधार पर नये रूस का सृजन कर रहे थे - और शायद और भी ज़्यादा...

‘शवयात्रा’ की पंक्तियाँ :

तुमने जन-स्वातन्त्र्य के लिए, जन सम्मान के लिए

प्राणघाती युद्ध में अपने प्राणों की आहुति दी...

तुमने अपना जीवन बलिदान दिया

और अपना सब कुछ होम कर दिया।

तुमने बन्दीगृह में नरक की यातनाएँ भोगीं

तुम जंजीरों से बँधे कालापानी गये...

तुमने इन जंजीरों को ढोया

और उफ़ भी नहीं किया।

क्योंकि तुम अपने दुखी भाइयों की आवाज़ को

अनसुनी नहीं कर सकते थे।

क्योंकि तुम्हारा विश्वास था कि न्याय की शक्ति

खड़ग की शक्ति से बड़ी है...

समय आयेगा जब तुम्हारा अर्पित जीवन रंग लायेगा

वह समय आने ही वाला है...

अत्याचार ढहेगा और जनता उठेगी - स्वतन्त्र और महान।

अलविदा, भाइयो! तुमने अपने लिए महान पथ चुना।

तुम्हारे पदचिह्नों पर एक नयी सेना चल रही है,

जुलम सहने और मर मिटने के लिए तैयार...

अलविदा, भाइयो! तुमने अपने लिए महान पथ चुना।

हम तुम्हारी समाधि पर शपथ उठाते हैं,

हम संघर्ष करेंगे, आज़ादी के लिए और जनता की खुशी के लिए...



इस महल और इसकी वस्तुओं पर उनके अधिकार को कौन अस्वीकार कर सकता था? यह सबकुछ उनके और उनके पूर्वजों के परिश्रम का फल था। ये रचना के अधिकार से उनकी चीजें थीं। विजय की दृष्टि से भी ये वस्तुएँ उन्हीं की थीं। अपने हाथों में आग उगलने वाली बन्दूकें लिये हुए और हृदय में साहस बटोरकर उन्होंने इस महल पर अपना अधिकार स्थापित किया था। मगर कितने समय तक वे इस पर अपना कब्जा कायम रख सकेंगे। एक सदी तक यह ज़ार का था। कल इस पर केरेन्स्की का प्रभुत्व था। आज यह सर्वहारा वर्ग का है। कल यह किसके अधिकार में होगा? इस बारे में कोई कुछ नहीं कह सकता। आज के दिन क्रान्ति ने इसे सर्वहारा वर्ग के हाथ में सौंप दिया था। हो सकता है कि कल प्रतिक्रान्ति इसे इनके हाथ से छीन ले। अब चूँकि विजय के बाद उन्हें यह सुनहरा मौक़ा मिला है, तो वे अधिक से अधिक माल हस्तगत क्यों न कर लें? यही वह महल था, जहाँ एक शताब्दी तक दरबारियों ने गुलछर्रे उड़ाये थे, तो क्या वे एक रात भी यहाँ मनोविनोद नहीं कर सकते? बर्बर अत्याचारों एवं उत्पीड़नों से भरा उनका अतीत, आकुल वर्तमान और अनिश्चित भविष्य - यह सब उन्हें जो कुछ हाथ लगे, उसे हथियाने को प्रेरित कर रहा था।

महल में हुड़दंग का बोलबाला था। बेशुमार व्यक्तियों की आवाजों की प्रतिध्वनि गूँज रही थी। कपड़े और परदे फाड़े जा रहे थे। लकड़ी की वस्तुएँ तोड़ी जा रही थीं, टूटी खिड़कियों के शीशे चूर-चूर होकर फ़र्श पर गिर रहे थे, लकड़ी के चित्रकारी-युक्त आकर्षक फ़र्श पर भारी बूटों की धप-धप सुनायी दे रही थी और हज़ारों कण्ठों का स्वर छत से टकरा-टकराकर गूँज रहा था। हर्षोन्मत्त आवाज़ें और फिर लूट-पाट की वस्तुओं के बँटवारे के प्रश्न पर वाग्युद्ध भी सुनायी देता। खरखरी-फटी आवाज़ें, चीख-चिल्लाहट, भुनभुनाहट और गाली-गलौज भी सुनायी पड़ती थी।

इस हंगामे के बीच एक दूसरी आवाज़ - क्रान्ति की स्पष्ट और ज़ोरदार आवाज़ सुनायी दी। यह आवाज़ थी क्रान्ति के परमनिष्ठावान समर्थकों - पेत्रोग्राद के मज़दूरों की। वे मुट्टीभर थे, मुरझाये हुए, मगर लम्ब-तडंग कृषक सैनिकों के इस बड़े समूह के बीच घुसकर वे ज़ोरों से कह उठे, "यहाँ से कुछ मत उठाओ! क्रान्ति इसका निषेध करती है! लूट-पाट बिल्कुल नहीं होनी चाहिए! यह सबकुछ जनता की सम्पत्ति है!"

इस दृश्य को देखकर ऐसा लगा मानो बच्चे प्रचण्ड चक्रवात के विरुद्ध सीटी बजा रहे हों, भीमकाय सैनिकों के बड़े समूह पर बौने चढ़ आये हों। वे

"यह सबकुछ जनता की सम्पत्ति है!"

अल्बर्ट रीस विलियम्स उन पाँच अमेरिकी लोगों में से एक थे जो अक्टूबर क्रान्ति के तूफानी दिनों के साक्षी थे। अन्य चार लोग थे जॉन रीड, बेस्सी बिट्टी, लुइस ब्रयान्त और एलेक्स गाम्बोर्गी। उनकी दो पुस्तकें 'अक्टूबर क्रान्ति के दौरान' और 'लेनिन: व्यक्तित्व और कार्य' क्रान्ति के दिनों का आँखों देखा ब्योरा प्रस्तुत करती हैं। उस दौर की युगान्तरकारी उथल-पुथल से गुज़रते हुए लेखक इस सत्य को रेखांकित करता है कि क्रान्ति का असली नायक वस्तुतः सामान्य जन-समुदाय ही होता है। उनकी पहली पुस्तक से यहाँ प्रस्तुत अंश में पूँजीपतियों की सरकार के हेडक्वार्टर ज़ार के महल 'शीत प्रासाद' पर कब्जे के समय की घटनाओं और जनता के अलग-अलग वर्गों की भावनाओं का रोचक वर्णन है।

शब्दों से, विजय के दर्प से फूले हुए और लूट-पाट करने पर उतारू सैनिकों को रोकना चाहते थे, किन्तु बेसूद, लूट-पाट जारी रही। आखिर भीड़ थोड़े मज़दूरों के विरोध की क्यों परवाह करती?

क्रान्ति में संयम लाने वाला मज़दूर वर्ग का हाथ

परन्तु इन मज़दूरों की बातों पर ध्यान देना ही पड़ा। उन्हें मालूम था कि उनके शब्द क्रान्ति के दृढसंकल्प को व्यक्त करते हैं। इसी कारण वे निडर और दबंग थे। वे बड़े क्रोध में भीमकाय सैनिकों पर बरस पड़ते, उन्हें जली-कटी सुनाते और उनके हाथों से लूट-पाट की चीजें छीन लेते। उन्होंने बहुत जल्द ही सैनिकों को अपनी सफ़ाई देने की स्थिति में डाल दिया।

एक लम्ब-तडंग किसान एक भारी ऊनी कम्बल लिये भागा जा रहा था। एक नाटे मज़दूर ने उसे रास्ते में ही घेर लिया। उसने लपककर कम्बल पकड़ा और एक सिरे को ज़ोर से खींचते हुए किसान को उसी प्रकार फटकारना शुरू किया, जैसे गलत काम करने पर बच्चे को डाँटा जाता है। तीव्र आवेश से किसान का चेहरा तमतमा उठा और उसने गुराँते हुए कहा :

"कम्बल छोड़ दो! यह मेरा है!"

मज़दूर ने ज़ोर से कहा, "नहीं, यह तुम्हारा नहीं है। यह जनता का है। आज रात महल से कोई भी चीज़ कोई बाहर नहीं ले जा सकता।"

"तो आज रात मैं इस कम्बल को ज़रूर ले जाऊँगा। बैरक में बड़ी सर्दी है।"

"कामरेड, मुझे दुख है कि तुम्हें सर्दी से कष्ट है। मगर तुम्हारी लूट-पाट से क्रान्ति कलंकित हो, इससे बेहतर यही है कि तुम जाड़ा बरदाशत करो।"

किसान ने झल्लाकर कहा, "तुम पर शैतान की मार! आखिरकार हमने क्रान्ति की किसलिए? क्या यह लोगों को वस्त्र और भोजन देने के लिए नहीं की गयी?"

"हाँ, कामरेड, आज रात नहीं, परन्तु उपयुक्त समय पर क्रान्ति आपकी ज़रूरत के अनुसार आपको हर चीज़ प्रदान करेगी। यदि इस महल से बाहर कोई भी चीज़ गयी, तो हमें सच्चा समाजवादी नहीं, बल्कि आवारा और लुटेरा कहा जायेगा। हमारे शत्रु यह कहेंगे कि हम क्रान्ति के लिए नहीं, बल्कि लूट-पाट के लिए यहाँ आये थे। इसलिए हमें यहाँ की कोई चीज़ नहीं लेनी चाहिए। यह जनता की सम्पत्ति है। क्रान्ति की प्रतिष्ठा के लिए हमें यहाँ की चीजों की रक्षा करनी चाहिए।"

समाजवाद, क्रान्ति, जनता की सम्पत्ति - इनके नाम पर कम्बल उससे छीन लिया जायेगा। सदा ऐसे ही शब्दों, इसी प्रकार की अस्पष्ट बातों के नाम पर उसकी चीजें उससे छीनी जाती रही हैं। कभी "ईश्वर की महिमा-स्वरूप

ज़ारशाही" के नाम पर यह काम हुआ करता था। अब "समाजवाद, क्रान्ति, जनता की सम्पत्ति" के नाम पर वही हो रहा था।

परन्तु इसके बावजूद इस अन्तिम धारणा में कुछ ऐसी बात थी, जिसे किसान समझ सकता था। यह उसकी सामुदायिक मानसिक गठन के अनुकूल थी। जब यह धारणा उसके मस्तिष्क में बैठ गयी, तो ऊनी कम्बल हथियाने का विचार उसके दिमाग़ से गायब होने लगा और अपनी बहुमूल्य निधि पर अन्तिम मर्मभेदी निगाह डालकर वह वहाँ से धीरे-धीरे चल पड़ा। बाद में मैंने उसे एक अन्य सैनिक को यही बात विस्तृत रूप से समझाते देखा। वह "जनता की सम्पत्ति" की चर्चा कर रहा था। मज़दूरों ने लूट-पाट रोकने के लिए अनुनय-विनय किया, समझाया-बुझाया और ज़रूरत पड़ने पर धमकी भी दी और वे सफल हुए। महल के एक शयन-कक्ष में एक बोलशेविक मज़दूर गुस्से से अपना एक हाथ हिलाकर तीन सैनिकों को धमका रहा था और उसका दूसरा हाथ उनकी पिस्तौल पर था। उसने ज़ोर से कहा :

"यदि तुम लोगों ने उस मेज़ को स्पर्श किया, तो तुम्हें मुझे इसका जवाब देना होगा।"

सैनिकों ने उसका मज़ाक़ उड़ाते हुए कहा, "ओहो, तुम्हें जवाब देना होगा! तुम हो कौन? हमारी ही तरह तुम भी महल में घुस आये हो। हम और किसी के सामने नहीं, केवल अपने ही सामने जवाबदेह हैं।"

मज़दूर ने सख्ती से प्रत्युत्तर में कहा, "तुम लोग क्रान्ति के सामने जवाबदेह हो।" वह अपने कर्तव्य के प्रति इतना अधिक निष्ठावान था कि इन तीनों सैनिकों ने उसमें क्रान्ति के अधिकार को महसूस किया। उन्होंने उसकी बातें सुनीं और उसके आदेश का पालन किया।

क्रान्ति ने जन-समुदाय में साहस और जोश पैदा किया था। इसने उन्हें शीत प्रासाद पर धावा बोलने के लिए उत्प्रेरित किया था। अब वह उन्हें नियन्त्रित कर रही थी। वह गुल-गपाड़े की जगह शान्ति और व्यवस्था कायम करने, भीड़ की भावना को नियन्त्रित करने की दिशा में प्रयत्नशील थी; जगह-जगह सन्तरी तैनात किये जा रहे थे।

गलियारों में यह आवाज़ गूँज उठी, "सभी लोग बाहर चले जायें, महल से भीड़ बिल्कुल हट जाये," और इस निर्देश के अनुसार भीड़ दरवाज़ों की ओर बढ़ने लगी। सभी दरवाज़ों पर तलाशी और निरीक्षण के निमित्त आत्म-नियुक्त समिति के सदस्य खड़े थे। वे बाहर निकलने वाले प्रत्येक व्यक्ति की तलाशी लेते थे, उनकी जेबों, कमीज़ों और यहाँ तक कि जूतों को भी पैर से निकलवाकर देखते थे। इस तलाशी के फलस्वरूप विविध प्रकार की स्मारिकाएँ जैसे छोटी-

छोटी मूर्तियाँ, मोमबत्तियाँ, कपड़े टाँगने की खूँटियाँ, बेल-बूटेदार रेशमी वस्त्र, सजावटी गिलास, फूलदान आदि वहाँ जमा हो गये। इन चीजों को हथियाने वाले बच्चों की भाँति इन्हें ले जाने की अनुमति देने के लिए अनुनय-विनय करते, मगर उक्त समिति अपने निश्चय पर अडिग रहती और उसके सदस्य लगातार यही कहते जाते, "आज रात इस महल से कोई भी चीज़ बाहर नहीं जायेगी।"

और उस रात लाल गार्डों द्वारा रक्षित महल से कोई कुछ भी बाहर न ले जा सका, गोकि चोर-लुटेरे बाद में बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ लेकर चम्पत हो गये।

अब कमिसारों ने अस्थायी सरकार और उसके समर्थकों की ओर ध्यान दिया। उन्हें पकड़कर बाहर लाया गया। सबसे आगे-आगे मन्त्री थे, जिन्हें राजकीय हॉल में हरे रंग के ऊनी कपड़े से सज्जित मेज़ के चारों ओर बैठे पकड़ा गया था। वे चुपचाप पंक्तिबद्ध बाहर निकले। भीतर जो भीड़ रह गयी थी, उसने न तो एक शब्द कहा और न इनका मज़ाक़ उड़ाया। मगर बाहर जब एक नौसैनिक ने मोटरगाड़ी लाने को कहा, तो एकत्र भीड़ ने भयभीत मन्त्रियों को धकियाते हुए ज़ोरों से चिल्लाकर कहा, "उन्हें पैदल ले जाओ। बहुत दिनों तक मोटरों पर सवारी कर चुके हैं।" तनी हुई संगीनों के साथ लाल नौसैनिक अपने बन्दियों को चारों ओर से घेरकर उन्हें नेवा नदी के पुलों के पार ले गये। बन्दियों के इस समूह में लम्बे क्रद के उक्रइनी पूँजीपति तेरेश्चेन्को का सिर सबसे ऊपर दिखायी दे रहा था, जिसे नौसैनिक अब विदेश मन्त्रालय से पीटर-पॉल जेल में डालने के लिए ले जा रहे थे और उसके स्थान पर बोलशेविक त्राँत्स्की को विदेश मन्त्रालय लायेंगे।

जब नौसैनिक नतशिर युंकरों को बन्दी बनाकर ले जा रहे थे, तो भीड़ चिल्ला उठी, "उत्तेज़क! गद्दार! हत्यारे!" उसी दिन सुबह प्रत्येक युंकर ने यह शपथ ली थी कि वे एक गोली शेष रह जाने तक बोलशेविकों के खिलाफ़ लड़ते रहेंगे। बोलशेविकों के सम्मुख आत्मसमर्पण करने की जगह वे इस आखिरी गोली से अपना काम तमाम कर लेंगे। मगर अब युंकर बोलशेविकों को अपने हथियार सौंप रहे थे और गम्भीरता के साथ यह वादा कर रहे थे कि वे बोलशेविकों के विरुद्ध कभी हथियार नहीं उठोयेंगे। (बदकिस्मत झूठे! उन्हें अपनी क्रसम तोड़नी पड़ी!)

सबसे बाद में महिला बटालियन की सदस्याओं को महल से बाहर लाया गया। उनमें से अधिकांश सर्वहारा वर्ग की थीं। लाल गार्डों ने उन्हें देखते ही चिल्लाकर कहा, "महिला बटालियन हाय, हाय! शर्म की बात है कि मज़दूरों ने ही मज़दूरों के खिलाफ़ लड़ती रहीं!" अपने आक्रोश को प्रकट करने के लिए

कुछ लोगों ने लड़कियों के हाथ पकड़कर उन्हें खींचा और डाँटा-फटकारा।

सैनिक लड़कियों को इससे अधिक और कोई हानि नहीं पहुँचाई गयी, यद्यपि बाद में एक सैनिक लड़की ने आत्महत्या कर ली। दूसरे दिन विरोधी समाचारपत्रों ने लाल गार्डों द्वारा शीत प्रासाद में लूट-पाट करने की खबरों के साथ महिला बटालियन के विरुद्ध जघन्य अत्याचार करने की मनगढ़न्त कहानियाँ प्रकाशित कीं।

मज़दूर वर्ग के लिए विनाशकारी कृत्यों से बढ़कर उनके सहज-स्वभाव के प्रतिकूल और कोई बात नहीं है। यदि यह न होता, तो इतिहास में 26 अक्टूबर (8 नवम्बर) की सुबह से सम्बन्धित सम्भवतः कुछ भिन्न घटनाएँ ही दर्ज की जातीं। शायद इतिहास यह वृत्तान्त प्रस्तुत करता कि ज़ार का शानदार महल ध्वस्त पत्थरों का ढेर बन गया और दीर्घकाल से उत्पीड़ित लोगों की प्रतिहिंसा के फलस्वरूप आग की लपटों में राख होकर रह गया।

यह निष्ठुर और हृदयहीन महल एक सदी से नेवा के तट पर खड़ा था। जनता ने प्रकाश पाने की आशा से इस ओर देखा, परन्तु उसे अन्धकार मिला। लोगों ने अनुकम्पा की भीख माँगी, परन्तु उन्हें कोड़े मिले, उनके गाँव फूँके और उन्हें निष्कासन की सज़ा देकर साइबेरिया भेज दिया गया, नारकीय यन्त्रणाएँ दी गयीं। 1905 की शीत ऋतु में एक दिन सुबह ठिठुरते हुए हज़ारों निहत्थे लोग अन्याय को दूर कराने के लिए ज़ार से अनुनय-विनय करने के खयाल से यहाँ जमा हुए थे। मगर महल ने इस प्रार्थना के उत्तर में उन पर गोली-वर्षा की और उन्हें तोपों से भून डाला; उनके खून से बर्फ़ लाल हो गयी थी। जन-समुदाय के लिए यह प्रासाद निर्दयता एवं उत्पीड़न का स्मारक बन गया था। यदि उन्होंने इसे भूमिसात कर दिया होता, तो यह केवल अपमानित जनता के गुस्से का एक और दृष्टान्त होता, जिसने सदा के लिए अपने उत्पीड़न के घृणास्पद प्रतीक को मिटाकर आँखों से ओझल कर दिया होता।

इसके विपरीत, उन्होंने इस ऐतिहासिक स्मारक को किसी भी तरह की क्षति से बचाने की कोशिश की।

केरेन्स्की ने सर्वथा भिन्न बात की थी। उसने शीत प्रासाद को अपने मन्त्रिमण्डल की बैठकों और अपनी रिहायश का स्थान बनाकर इसे मुठभेड़ों का केन्द्र बना दिया था। परन्तु इस पर धावा करके इसे अपने अधिकार में करने वाले जन-समुदाय के प्रतिनिधियों ने यह घोषणा की कि यह महल न तो उनका है, न सोवियतों का, बल्कि सारी जनता की विरासत है। सोवियत आज़ाप्ति के अनुसार शीत प्रासाद को लोक-संग्रहालय घोषित करके कलाकारों की एक प्रबन्ध-समिति के हवाले कर दिया गया।



हथौड़े की मार

— राहुल सांकृत्यायन
(‘सोवियत भूमि’ पुस्तक का अंश)

सोवियत सरकार ही मज़दूरों की है। सोवियत संघ की सुख-समृद्धि की हर वृद्धि मज़दूरों की सुख-समृद्धि में वृद्धि है। इस संघ के द्वारा संसार में वे एक ऐसे समाज की सृष्टि करना चाहते हैं, जिसके अन्दर साम्यवाद के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स के शब्दों में, ‘सब योग्यता के अनुसार काम करें और आवश्यकता के अनुसार पावें।’ लेकिन पाँच हजार वर्षों के मनुष्य के इतिहास को चुटकी बजाते बदल देना असम्भव है। हाँ उस आदर्श तक पहुँचने के लिए वे सिर तोड़ परिश्रम कर रहे हैं। उनका हर क्रम उसी ओर बढ़ रहा है।

लेकिन इस परिश्रम, इस कशमकश के बीच भी जो सहूलियतें सोवियत संघ के मज़दूरों को हैं, उनका सपना भी पूँजीवादी देशों के मज़दूर नहीं देख सकते। सब मज़दूरों को पूरी मज़दूरी पर काम पाने की गारण्टी है। हर काम करने वाले को आराम की गारण्टी है। बेकारी का तो कहीं नामोनिशान नहीं है। काम के घण्टे सिर्फ़ सात हैं, मुश्किल कामों और खानों में तो उनसे सिर्फ़ छः घण्टे काम लिया जा सकता है। मुशाहरे के साथ उन्हें लम्बी छुट्टियाँ मिलती हैं। बीमार होने पर अच्छे से अच्छे डॉक्टर की चिकित्सा उन्हें मिलती है, सुन्दर से सुन्दर स्वास्थ्यकर स्थानों में उन्हें विश्राम के लिए भेजा जाता है। उनके साथ उनकी बीवियाँ भी बराबरी की मज़दूरी पर काम कर सकती हैं। उनके बच्चों के लिए शिशुगृह और स्कूलों के दरवाज़े खुले हैं। शिल्प विद्यालय और विश्वविद्यालय उनकी और उनके बच्चों की प्रतीक्षा में रहते हैं। बुढ़ापे में अच्छी-खासी पेंशन लेकर वे हँसते-हँसते शेष जीवन बिता सकते हैं।

इन सबके अलावा और इन सबके ऊपर मज़दूरों को कारखाने के अन्दर पूरी स्वाधीनता प्राप्त है। कारखाने—जहाँ वे ज़िन्दगी का अधिकांश भाग बिताते हैं, जहाँ स्वाधीनता ही सबसे बड़ी क्रीमत है, जहाँ स्वाधीनता पाना मुश्किल है।

कारखाने का जनतन्त्र सोवियत

स्वाधीनता का क़िला है। इसके रूप और मूल्य पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। मध्यम वर्ग और मज़दूर वर्ग के निकट स्वाधीनता, जनतन्त्र आदि का मानी एक नहीं है। मध्यम वर्ग को कारखानों के अत्याचारों और व्यवधानों को सहने का मौक़ा कहाँ? इसलिए स्वाधीनता का मानी वह राजनीतिक अर्थ में लेता है - यानी वोट करने की स्वाधीनता। अगर आर्थिक रूप में वह स्वाधीनता को लेता है, तो उसका मानी वह खुलकर, बिना बन्धन-बाधा के, मज़दूरों से काम लेना समझता है।

आर्थिक आवश्यकताओं के चलते मज़दूरों को ऐसे अनुशासन के अन्दर रहने को बाध्य होना पड़ता है, जिसके बनाने में न उनका हाथ है, न रज़ामन्दी। यह अनुशासन उन्हें पतन के गड्ढे में ढकेलता और उनके मन में एक चिढ़ पैदा करता रहता है। उनकी ज़िन्दगी का विकास रुक जाता और उनके दृष्टिकोण का घेरा छोटा हो जाता है। ऊपर से लादा गया अनुशासन दिमाग पर बोझ का काम करता है; स्वतः प्रवृत्त होने की भावना का गला घोट देता है। भीतर ही भीतर एक आँच धुँधुँआती रहती है, जो समय-समय पर सामाजिक उथल-पुथल और क्रान्ति के रूप में प्रकट होती है।

पूँजीवादी देशों के मज़दूर संघों का जन्म इन्हीं असंगतियों के चलते हुआ। जब तुम्हें चूसने, दबाने या बरबाद करने का हक़ है, तो हमें भी अपने को संगठित करने और ज़रूरत पड़ने पर हड़ताल करने का हक़ है। बड़े संघर्ष के बाद पूँजीपतियों को मज़दूरों की इस माँग के आगे सिर झुकाना पड़ा।

लेकिन सोवियत के कारखानों और अर्थनीति में इन असंगतियों के लिए जगह ही नहीं है। वहाँ कोई शासक वर्ग उन्हें चूसने वाला नहीं। चाहे मज़दूर हो, मिस्त्री हो, फ़ोरमैन हो, मैनेजर हो, डायरेक्टर हो - सब एक ही उद्देश्य से प्रेरित होकर काम करते हैं। वह उद्देश्य है - समाज की सार्वभौमिक भलाई, हर व्यक्ति को अधिक से अधिक सुखी और स्वाधीन जीवन बिताने का मौक़ा देना। मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण वहाँ कहाँ?

वहाँ मज़दूर मैनेजर को अपना दुश्मन क्यों समझें? मैनेजर मज़दूरों पर रोब क्यों गालिब करे? कलह की जगह सहयोग ने ली है। डायरेक्टर, मैनेजर, फ़ोरमैन, कारीगर, मज़दूर सभी एक ही समाज के अंग हैं और सब एक उद्देश्य से काम करते हैं।

निस्सन्देह, योग्यता और कारीगरी के अनुसार वहाँ के मज़दूरों के वेतन में फ़र्क़ है। लेकिन यह वेतन का विभेद मज़दूरों में पस्ती नहीं लाता, बल्कि उन्हें आगे बढ़ने को प्रेरित करता है। हर मज़दूर को नैतिक और भौतिक सहायता योग्यता बढ़ाने के लिए दी जाती है। अपने शरीर और दिमाग को अधिक होशियारी से इस्तेमाल कर वे असीम उन्नति कर सकते हैं। आगे बढ़ने वालों को हमेशा ही प्रोत्साहित किया जाता है। मान लीजिए, किसी कारखाने में काम के आठ ग्रेड हैं। उसमें तीसरे ग्रेड में काम करने वाला मज़दूर मैनेजर के पास पहुँचता है और कहता है, मुझे चौथे ग्रेड में भेजिए, मैंने उसके लायक योग्यता हासिल कर ली है, तो मैनेजर कहता है, अच्छा पन्द्रह दिन के लिए आपको मौक़ा मिलता है, जाइए, काम कीजिए। अगर इसके अन्दर वह योग्य साबित हुआ फिर तो वहाँ रख लिया गया, नहीं तो फिर ‘सी’ ग्रेड में आ गया। बात यों है कि समूचे संसार में सोवियत संघ ही ऐसा राज्य है, जो अपने देश के हर मर्द, औरत, लड़के, लड़की को अधिक-से-अधिक योग्य बनाकर मानवता के अन्दर के भेदभाव को मिटाने के लिए सचेष्ट है। शोषण प्रथा को ग़ैरक्रान्ती बनाकर अपने हर सदस्य को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए वह प्रतिज्ञाबद्ध है। वहाँ ज़िन्दगी के नये आदर्श हैं, नयी सम्भावनाएँ हैं। वहाँ में बँटे समाज में जो निश्चलता, निस्पन्दता, निर्जीवता होती है, उसका वहाँ हमेशा के लिए खात्मा हो चुका है।

सोवियत संघ का मज़दूर संघ संसार की सबसे बड़ी संस्था है। इसके फ़ीस देने वाले सदस्यों की संख्या 1932 में एक करोड़ अस्सी लाख थी। संसार की सभी मज़दूर संस्थाओं की सदस्य संख्या भी इतनी बड़ी नहीं होगी। सोवियत संघ

के हर छोटे-बड़े कारखाने में मज़दूर संघ कायम हैं और उनकी सदस्यता का दरवाज़ा मैनेजर से लेकर अपरेण्टिसों तक के लिए खुला हुआ है। इन संघों की कार्य-समितियों का चुनाव बड़े धूमधाम से होता है, जहाँ उम्मीदवारों की विजय पद-मर्यादा पर निर्भर नहीं होकर उनकी सेवा-भावना पर निर्भर करती है।

ये मज़दूर संघ सबसे पहले तो अपने कारखाने की पैदावार बढ़ाने पर ज़ोर देते हैं क्योंकि पैदावार की वृद्धि का मतलब है, उनके वेतन और दूसरी सुख-सुविधाओं में वृद्धि। इसके लिए मज़दूर संघ तेज़ काम करने वालों की टोलियाँ बनाते और साम्यवादी प्रतियोगिताएँ करते रहते हैं। वेतन वृद्धि के अलावा सोवियत मज़दूर संघ अपने सदस्यों की औद्योगिक दुर्घटनाओं से रक्षा करने और उनके काम करने की जगह को अधिक स्वास्थ्यपूर्ण और सुविधापूर्ण बनाने की चेष्टा में लगे रहते हैं। यही नहीं, कारखाना किस योजना पर चलाया जाये, इस पर भी संघ में बहस होती है और नये-नये तरीक़े निकाले जाते हैं। यदि किसी मज़दूर ने छोटी-मोटी ग़लती की तो संघ की ओर से नियुक्त ‘साथियों की पंचायत’ उस पर विचार करती और सही रास्ते पर लाने के लिए उससे प्रायश्चित और पश्चाताप कराती। कारखाने की सहयोग समितियों का संचालन भी मज़दूर संघ ही करते हैं, जहाँ से मज़दूर अन्न वस्त्र आदि का विनिमय करते हैं। जब से कारखानों के साथ उनके निजी खेत की व्यवस्था सोची गयी है, तब से उन खेतों का इन्तज़ाम भी संघ के ही हाथ में रहता है। मज़दूरों की बीमारी, बुढ़ापे, दुर्घटना आदि का बीमा और पेंशन का प्रबन्ध भी संघ द्वारा बनायी गयी कमेटी के ही ज़िम्मे होता है। मज़दूर परिवारों के लिए और मज़दूरों के क्लब, पुस्तकालय आदि के लिए मकानों का प्रबन्ध भी संघ ही करता है। छुट्टियों में किस मज़दूर को किस पहाड़ी या सामुद्रिक स्वास्थ्यप्रद स्थान में भेजा जाये, इसके निर्णय के अलावा मज़दूरों के लिए भ्रमण की सुविधा, थियेटर और सिनेमाघरों की टिकटों का इन्तज़ाम वगैरह का सर्वाधिकार मज़दूर संघ को प्राप्त है। इन मज़दूर संघ के कारण सोवियत कारखाने बिल्कुल ही जनतन्त्री हैं।

ये मज़दूर संघ कितने अधिक जनतन्त्री होते हैं, इसके सबूत में इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध विद्वान मि. सिडनी वेब का एक वर्णन देखिए -

“हमने खुद अपनी समुद्र यात्रा के सिलसिले में एक मज़दूर संघ की बैठक देखी है, जिसमें उस जहाज़ के कप्तान ने आय-व्यय का पूरा चिट्ठा जहाज़ के मज़दूरों के सामने रखा। बिजली का एक कारीगर सभापति के आसन पर था। जहाज़ के हर विभाग के लोग वहाँ एकत्रित थे, जिनमें कुछ स्त्रियाँ भी थीं। जो चिट्ठा रखा गया, उसमें घाटा दिखलाया गया था - आय से व्यय अधिक था। बस, तरह-तरह की आलोचनाएँ होने लगीं। एक माँझी ने पूछा, क्यों टेम्स में ऐसे किनारे पर जहाज़ लगाया गया, जहाँ के लिए ज़्यादा पैसे चुकाने पड़े। कप्तान ने बताया, क्योंकि वहाँ से मक्खन का बाज़ार नज़दीक था। कोयला झोंकने वाले एक मज़दूर ने पूछा, क्यों इस यात्रा में ऐसी तेज़ी से जहाज़ लाया गया? जवाब मिला, क्योंकि जल्दी पहुँचने से मालों की क्रीमत अधिक मिलने की सम्भावना थी। यों ही कितने सवाल और जवाब हुए। इस बहस के शिक्षात्मक मूल्य के बारे में तो कुछ कहना ही नहीं, इससे यह भी पता चलता है कि सभी पदों के लोगों के बीच किस प्रकार साथी-भाव है और एक ‘समान आदर्श’ किस प्रकार लोगों को प्रेरित करता है।”

इस विवरण और उद्धरण से यह साफ़ पता चल जाता है कि वहाँ के मज़दूर का उद्योग में क्या हाथ है? वहाँ का मैनेजर या डायरेक्टर उनका ‘मालिक’ नहीं है, बल्कि एक ‘अनुभवी साथी’ है, जो उस जगह पर अपनी योग्यता के कारण पहुँचा है और हर मज़दूर उस जगह पहुँच सकता है, यदि वह अपने को योग्य बनाये। अनुभवी होने पर भी वह निरंकुश नहीं है, उसकी आलोचना खुलेआम की जा सकती है, उसे जवाब देने को मज़बूर होना पड़ेगा। सोवियत संघ के कारखानों में आलोचना की जैसी गुंजाइश है, वैसी संसार में सपने में भी नहीं देखी जा सकती है।

मज़दूरों की पूरी स्वाधीनता कहीं दीख पड़ती है, तो सोवियत संघ में ही। वहाँ का कारखाना मज़दूरों का ‘कैदखाना’ नहीं है, जहाँ कुछ मुट्ठी अन्न या कुछ पैसों की क्रीमत पर उन्हें आजन्म कैद की सज़ा स्वेच्छा से स्वीकार करनी पड़ती है। सोवियत कारखाना मज़दूरों का वह ‘आज़ादी का महल’ है, जहाँ उनकी सभी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और जहाँ उनके व्यक्तित्व को अधिक से अधिक विकास का मौक़ा मिलता है।

“मैं आश्चर्य से भर जाता हूँ”: रवीन्द्रनाथ टैगोर

आखिरकार मैं रूस में हूँ। मैं जिधर भी नज़र दौड़ाता हूँ, आश्चर्य से भर जाता हूँ। किसी भी दूसरे देश में ऐसी स्थिति नहीं है...ऊपर से नीचे तक वे हर किसी को जगा रहे हैं....

यह क्रान्ति लम्बे समय से रूस की दहलीज़ पर खड़ी अन्दर आने का इन्तज़ार कर रही थी। लम्बे समय से तैयारियाँ चल रही थीं; इसके स्वागत के लिए रूस के अनगिनत ज्ञात और अज्ञात लोगों ने अपने प्राणों की आहुति दी और असहनीय यंत्रणाओं को भोगा।

क्रान्ति का ध्येय व्यापक है, परन्तु शुरुआत में यह दुनिया के कुछ निश्चित

हिस्सों में घटित होती है। बिल्कुल वैसे ही जैसे, पूरे शरीर के रक्त के संक्रमित होते हुए भी, कमज़ोर जगहों पर चमड़ी लाल हो जाती है और छाले फूट पड़ते हैं। यह रूस ही था, जहाँ की गरीब और बेसहारा जनता अमीरों और ताकतवर लोगों के हाथों इस कदर जुलम सह रही थी जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसलिए, यह रूस ही है, जहाँ दो पक्षों के बीच की इस अत्यधिक ग़ैर-बराबरी एक रैडिकल समाधान सामने आया है।

...वह क्रान्ति जिसने ज़ार (रूस का बादशाह) के शासन का अन्त कर दिया, 1917 में ही हुई है, यानी अभी 13

वर्ष पहले की ही बात है। इन 13 वर्षों के दौरान उन्हें अपने देश के भीतर और बाहर, दोनों जगह हिंसक विरोधियों के विरुद्ध लड़ना पड़ा। वे अकेले हैं और उन्हें अपने कर्धों पर जर्जर राजनीतिक व्यवस्था का भार उठाना पड़ रहा है। इससे पूर्व के कुशासन का इकट्ठा किया हुआ कचरा उनके पैरों की बेड़ियाँ बन रहा है। गृहयुद्ध के जिस तूफान को पार कर उन्हें नये युग के तट पर पहुँचना था, उसे इंग्लैण्ड और अमरीका की गुप्त और खुली मदद ने प्रचण्ड बना दिया। उनके पास संसाधन कम हैं: विदेशी व्यापारियों से उन्हें कुछ भी उधार नहीं मिल सकता।

न ही देश में पर्याप्त उद्योग हैं। सम्पदा के उत्पादकों के रूप में अभी शक्तिहीन हैं। इसलिए, वे इस परीक्षा की घड़ी को पार करने के लिए अपना खुद का भोजन बेचने को मज़बूर हैं। इसके साथ ही, उनके लिए राजनीतिक मशीनरी के सबसे अनुत्पादक हिस्से, सेना, को पूरी तरह कायम रखना अत्यावश्यक है, क्योंकि आज की सभी पूँजीवादी ताकतें उनकी दुश्मन हैं और उनके शस्त्रागार हथियारों से भरे हुए हैं।

मुझे याद है, कैसे सोवियत संघ ने अपने निःशस्त्रीकरण प्रस्तावों से उन देशों को चौंका दिया था, जो शान्ति-प्रिय होने

की बातें करते थे। सोवियत संघ ने ऐसा इसलिए किया था, क्योंकि उनका उद्देश्य राष्ट्रीय स्तर पर अपनी ताकत बढ़ाते जाना नहीं है - शिक्षा और स्वास्थ्य व्यवस्था और जनता की आजीविका के साधनों को सबसे कुशलता से और व्यापक रूप से विकसित करके अपने आदर्शों को ज़मीन पर उतारना ही उनका मकसद है - उनके इस मकसद के लिए अत्यन्त ज़रूरी है, बाधारहित शान्ति।

(1930)

हिन्दी अनुवाद: अखिल कुमार

अक्तूबर क्रान्ति



सोवियत संघ में स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में भारी और मौलिक परिवर्तन हुआ है। लेकिन पूँजीवादी लेखक और पत्र उसे बढ़ा-चढ़ाकर इस प्रकार दिखलाना चाहते हैं कि जिसमें बाहर के अधिकचरे सहानुभूति रखने वाले लोग भड़क उठें। इस सम्बन्ध में जो परिवर्तन हुआ है, वह दो बातों के कारण हुआ है। सोवियत राष्ट्र ने सिर्फ सिद्धान्त के रूप में ही स्त्री-पुरुष को बराबर नहीं माना है; बल्कि क्रियात्मक रूप से उसने इसे दिखला दिया है। दरअसल स्त्रियों की काज़ी स्वतन्त्रता तब तक वास्तविक रूप धारण नहीं कर सकती, जब तक कि उन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता न हो। पूँजीवादी देश चाहे यूरोप के हों या एशिया के, अमेरिका के हों या अफ्रीका के, विवाह सम्बन्ध को स्त्रियों के लिए जीविकोपार्जन का एक पेशा मानते हैं। सामाजिक नियम राजनीतिक क़ानून से भी बलवान होते हैं; और वह कभी इस बात के लिए उत्साह नहीं देते कि स्त्री अपनी रोज़ी कमाने में पुरुषापेक्षी न हो। रोज़ी कमाने वाली स्त्री को नीची निगाह से देखा जाता है। डॉक्टरी, वकालत, प्रोफ़ेसरी - जैसे कुछ काम ऐसे ज़रूर हैं, जिनमें जाने वाली स्त्रियों को उतनी नीची निगाह से नहीं देखा जाता। लेकिन इनमें जाने वाली औरतें कितनी हैं ही? जिनमें प्रतिभा और शिक्षा है, उनके लिए भी वहाँ पुरुषों से ज़बरदस्त प्रतियोगिता है। कैसे पुरुषों से? जो शताब्दियों से इन स्थानों पर अपना पक्का अधिकार जमा चुके हैं। स्त्री जो कुछ स्वतन्त्र जीविका कर भी सकती थी, उसमें भी आये दिन बाधा उपस्थित की जा रही है। हिटलर-शासित जर्मनी ने विवाहित स्त्रियों को नौकरी करने से वंचित कर दिया है। उसके अन्दर यही विचार काम कर रहा है; कि विवाह ऐसी स्त्री के लिए एक पेशा मिल ही चुका है; उसे दूसरे पेशे की ज़रूरत ही क्या?

सोवियत ने स्त्रियों को स्वतन्त्र पेशा अख्तियार करने के लिए सारे दरवाज़े खोल दिये हैं। आज वहाँ ऐसी स्त्री का मिलना मुश्किल है; जो पति की कमाई पर गुज़ारा करती हो। स्थलीय, समुद्री और वायवीय - तीनों सेनाओं में साधारण सिपाही से लेकर बड़े-बड़े अफ़सर बनने तक का अधिकार स्त्रियों को प्राप्त है। वायुसेना में तो उनकी काफ़ी तादाद है। राजनीति में वह खुलकर हिस्सा लेती हैं; और राष्ट्रीय प्रजातन्त्रों तथा सोवियत संघ प्रजातन्त्र के मन्त्री जैसे दायित्वपूर्ण पदों पर वह पहुँच रही हैं। पार्लियामेंट के मेम्बरो

में उनकी ख़ासी संख्या है। इंजीनियर, प्रोफ़ेसर, डॉक्टर ही नहीं, बड़ी-बड़ी फ़ैक्टरियों में कितनी ही डायरेक्टर तथा डिप्टी डायरेक्टर तक स्त्रियाँ हैं। वर्तमान सोवियत पार्लियामेंट के सबसे कम उम्र के सदस्य क्लाउदिया सखारोवा को ही ले लीजिए। सखारोवा की उम्र अभी 19 साल है। वह रोदिन्की स्थान में पैदा हुई थी। उसके माँ-बाप उसी जगह कपड़े की मिल में मज़दूर थे। आजकल की बोल्शेविक बुनाई मिल, जिसकी सखारोवा डिप्टी डायरेक्टर है, क्रान्ति के पहले एक व्यापारी की सम्पत्ति थी। उस वक़्त घण्टों का नियम नहीं था; और सखारोवा के माँ-बाप काम के मारे पिसे जाते थे। सखारोवा के जन्म के समय लाल क्रान्ति हो चुकी थी, लेकिन अभी गृह युद्ध भयंकर रूप धारण किये हुए था। धीरे-धीरे सभी जगह सोवियत शासन स्थापित हुआ, और हर जगह श्रमजीवियों और किसानों के लिए स्कूल और दूसरी शिक्षण संस्थाएँ क़ायम हुईं। सखारोवा ने स्कूल में प्रवेश किया। सोलह वर्ष की उम्र तक उसने प्रारम्भिक शिक्षा और अपने भविष्य के व्यवसाय की शिक्षा प्राप्त की। 1935 में बुनकर के तौर पर उसने काम शुरू किया। साम्यवादी सरकार ने अच्छा काम करने में उत्साह पैदा करने के लिए वेतन और पुरस्कार भी अधिक नियत कर रखा है। जिस साल सखारोवा ने काम करना शुरू किया, उसी साल अलेखेई स्तखानोफ़ ने सोवियत के श्रमिकों के सामने बुद्धिपूर्वक तत्परता से काम करने का एक नया उदाहरण पेश किया। उसने काम करने के विभाग और यन्त्र के उपयोग द्वारा साधारण उपज से कई गुना अधिक कोयला उतने ही समय में निकाला। स्तालिन ने जब यह ख़बर पायी तो स्तखानोफ़ को सुदूर दक्षिण दोन की खानों से बुलाकर क्रेमलिन में उसका सम्मान किया; और चन्द ही दिनों में स्तखानोफ़ की कीर्ति बाल्टिक समुद्र से प्रशान्त महासागर तक फैल गयी। सखारोवा ने भी स्तखानोफ़ का नाम सुना। पहले वह दो करघों पर काम करती थी। फिर उसने सोचा, किस तरह वह अकेले 4 करघों का संचालन कर सकेगी। उसमें वह सफल हुई। फिर कुछ दिनों बाद वह 6 करघों को चलाने लगी। इस सफलता पर उसका मानसिक हर्ष और उल्लास ही नहीं बढ़ा, बल्कि उसे नगद इनाम मिले। मास्को और काकेशस की सैर के लिए टिकट और पैसे मिले; और सबसे बड़ी बात यह हुई कि वह कारखाने के प्रधान बुनकरों में गिनी जाने लगी।

निश्चय ही अगर सखारोवा किसी पूँजीपति के कारखाने में काम करती होती, तो उसे यह सुभीता न होता। पहले तो उसे इतना अच्छा काम करने

का जितना चाहिए उतना पुरस्कार न मिलता; और यदि दो से 4 करघों को पकड़ती तो एक मज़दूर बेकार हो जाता। 6 करघे तक पहुँचने तक तो 2 मज़दूर बेकार हो जाते। इस प्रकार वह अपने सहयोगी मज़दूरों के कोप का भाजन बनती। सोवियत में किसी के बेकार होने का डर नहीं। अबल तो उनके पास काम बहुत है, और जब काम कम हो, तो आदमी को बेकार करने की अपेक्षा काम के घण्टों को कम कर वह अधिक आदमियों को काम दे सकते हैं।

सखारोवा सिर्फ़ अपने ही कामों



से सन्तुष्ट न थी; दूसरे साम्यवादी श्रमजीवियों की तरह अपने अनुभव से अपने दूसरे साथियों को फ़ायदा पहुँचाना भी वह अपना कर्तव्य समझती थी। उसने खुद कहा है - “मैंने अपने कारखाने के युवक-युवती श्रमिकों को सुधरे हुए ढंग सिखलाने में मदद दी। मैंने कुछ बुनकरों को लेकर उन्हें सिखलाया; कि जिन चीज़ों पर काम करना है, उनकी सावधानी से देखभाल करनी चाहिए। मशीन और पुरजों को साफ़ और बाक़ायदा रखना चाहिए।” बोल्शेविक मिल में आज दर्जनों ऐसे चतुर उत्साही कार्यकर्ता हैं; जिनको सखारोवा ने इतनी थोड़ी उम्र में सिखाकर आगे बढ़ाया। उसी फ़ैक्टरी में एक तरुण बुनकर वान्या स्मिरनोफ़ भी काम करता था। उसका काम बहुत खराब था। जब वह पहले पहल कारखाने में आया, तो उसने इतना कपड़ा और सूत खराब किया कि उसे काम से हटा दिया गया। सखारोवा ने यह बात सुनी। उसने प्रबन्ध समिति से उसे फिर लेने के लिए प्रार्थना की; और

फिर सिखलाना शुरू किया। पहले ही महीने में उसने अपने हिस्से से एक सौ सात सैकड़ा अधिक काम किया; और कुछ ही महीनों में स्मिरनोफ़ ने अपने काम के ढंग को इतना सुधारा कि वह अपनी फ़ैक्टरी के अच्छे कार्यकर्ताओं में हो गया।

सखारोवा सिर्फ़ काम करने में ही अपने साथियों को मदद नहीं देती, बल्कि वह शिक्षा-सम्बन्धी और सामाजिक क्षेत्र में भी आगे बढ़ी हुई है। वह स्वयं पढ़ने की बड़ी शौकीन है। रूसी और विदेशी साहित्य, राजनीतिक

रोदिन्की की 30000 जनसंख्या गुजर-बसर करती है। सत्रह वर्ष की लड़की के लिए किसी पूँजीवादी देश में क्या ऐसा स्वप्न भी देखने को मिलता!

जिस वक़्त क्लाउदिया सखारोवा को यह पद मिला तो वह भी इसके भारी उत्तरदायित्व को समझकर सहम सी गयी थी। उसने कहा - “मुझे डर मालूम होता था कि मैं इस उत्तरदायित्व को निभा न सकूँगी। लेकिन मज़दूर संघ, इंजीनियर और पार्टी के सदस्यों ने मेरे इस नये काम में मेरी मदद की। पहले हमारा कारखाना अपनी योजना को पूरा नहीं करता था, लेकिन अब हमने अपनी उपज को योजना से भी ऊपर बढ़ा दिया है।”

सखारोवा के माँ-बाप अभी ज़िन्दा हैं। उसके दो छोटे भाई और एक बहन है। लड़के अभी स्कूल में पढ़ रहे हैं। सखारोवा के माँ-बाप के आनन्द के बारे में क्या पूछना है? कहाँ वह पुराने सौदागर के कारखाने में 12-12 घण्टे खटना और उस पर भी पेट को अन्न तथा तन को कपड़ा दुर्लभ! और कहाँ अब उन्हें सात घण्टे रोज़ का काम और अच्छा वेतन! और उनकी बेटी इस छोटी उम्र में फ़ैक्टरी में सहायक प्रबन्धक और इसके बाद देश की सर्वोपरि पार्लियामेंट की सदस्य! सखारोवा के माँ-बाप के घर में, जहाँ चूहे कलाबाज़ियाँ खेला करते थे, अब रेडियो, फ़ोनोग्राफ़ और सिलाई की मशीन है। खाना, पीना, रहना सभी काफ़ी ऊँचा है। पार्लियामेंट की सदस्य चुने जाने पर सखारोवा ने कहा - “कहाँ मैं एक 19 वर्ष की कपड़े के कारखाने की मज़दूरिन थी और वहाँ मैं अब राजनीतिज्ञ बन गयी? मैं जानती हूँ कि मेरे ऊपर कितनी भारी जवाबदेही है। दुनिया के किसी भी देश में मेरी जैसी कमसिन लड़की शासन-संचालन में हाथ डालने का अधिकार नहीं पा सकती।” सखारोवा अब भी अपने कारखाने की सहायक प्रबन्धक है; और साथ ही उसे पार्लियामेंट की सदस्य का कर्तव्य भी करना पड़ता है। अभी हाल में वह अध्ययनार्थ औद्योगिक एकेडमी में इंजीनियर का डिप्लोमा पाने के लिए दाखिल हुई है।

और उद्योग सम्बन्धी पुस्तकों को पढ़ने का उसे बहुत शौक है। वह खुद पढ़ती है, और अपने साथियों की प्रवृत्ति भी पढ़ने की ओर करती है। दो वर्ष के छोटे से समय में जबकि सखारोवा 18वें साल से ज़रा ही आगे बढ़ी थी, उसने अपने कार्य द्वारा सब पर अपना सिक्का जमा लिया; और प्रबन्ध समिति ने उसे कारखाने का असिस्टेंट डायरेक्टर (सहायक प्रबन्ध) निर्वाचित किया। बोल्शेविक मिल हमारे यहाँ जैसी कोई छोटी-मोटी मिल नहीं है, इसमें 11000 मज़दूर काम करते हैं; और इसी के सहारे

बोल्शेविक क्रान्ति पर गणेशशंकर विद्यार्थी
मज़दूरों की यह क्रान्ति दिन-ब-दिन निकट-सी आती जाती है। संसार-भर की सरकारें बड़ी सतर्कता के साथ उसकी ओर टकटकी लगाये हुए हैं, और साथ ही उससे अपनी रक्षा के उपाय कर रही हैं। देखना है कि इस महाक्रान्ति का आगामी रूप कैसा होता है? ग़रीबों का उद्धार और स्वाधीनता तथा न्याय का प्रचार होता है या नहीं?



को भी वर

जीतों के दिन की शान में गीत

यह कविता पाब्लो नेरूदा ने 1941 में लिखी थी, जब अक्टूबर क्रान्ति की 24वीं वर्षगांठ और स्पेनी गणराज्य की उपरोक्त विजय की पाँचवीं वर्षगांठ थी। 7 नवम्बर को दोहरी वर्षगांठ बतलाये जाने का कारण यह है कि सोवियत समाजवादी क्रान्ति दिवस होने के साथ-साथ इसी दिन मैड्रिड के द्वार से तानाशाह फ्रांको की राष्ट्रवादी सेना को (अस्थाई तौर पर) पीछे लौटने को बाध्य कर दिया गया था।

यह दोहरी वर्षगांठ, यह दिन, यह रात,

क्या वे पायेंगे एक खाली-खाली-सी दुनिया, क्या उन्हें मिलेगी उदास दिलों की एक बेढब-सी घाटी ?
नहीं, महज एक दिन नहीं घण्टों से बना हुआ,
जुलूस है यह आईनों और तलवारों का,
यह एक दोहरा फूल है आघात करता हुआ रात पर लगातार
जब तक कि फाड़कर निशा-मूलों को पा न ले सूर्योदय!

स्पेन का दिन आ रहा है

दक्षिण से, एक पराक्रमी दिन
लोहे के पंखों से ढका हुआ,
तुम आ रहे हो उधर से, उस आखिरी आदमी के पास से
जो गिरता है धरती पर अपने चकनाचूर मस्तक के साथ
और फिर भी उसके मुँह में है तुम्हारा अग्निमय अंक!

और तुम वहाँ जाते हो हमारी

अनडूबी स्मृतियों के साथ :
तुम थे वो दिन, तुम हो
वह संघर्ष, तुम बल देते हो
अदृश्य सैन्य-दस्ते को , उस पंख को
जिससे उड़ान जन्म लेगी, तुम्हारे अंक के साथ!

सात नवम्बर, कहाँ रहते हो तुम?

कहाँ जलती हैं पंखुडियाँ, कहाँ तुम्हारी फुसफुसाहट
कहती है बिरादर से : आगे बढ़ो, ऊपर की ओर!

और गिरे हुए से : उठो!

कहाँ रक्त से पैदा होता है तुम्हारा जयपत्र
और भेदता है इन्सान की कमज़ोर देह को और ऊपर उठता है
गढ़ने के लिए एक नायक?

तुम्हारे भीतर, एक बार फिर, ओ सोवियत संघ,
तुम्हारे भीतर, एक बार फिर, विश्व की जनता की बहन,
निर्दोष और सोवियत पितृभूमि। लौटता है तुम्हारे तक तुम्हारा बीज
पत्तों की एक बाढ़ की शकल में, बिखरा हुआ समूची धरती पर!

तुम्हारे लिए नहीं हैं आँसू लोगो, तुम्हारी लड़ाई में!
सभी को होना है लोहे का, सभी को आगे बढ़ना है और जख्मी होना
है,
सभी को, छुई न जा सकने वाली चुप्पी को भी, सन्देह को भी,
यहाँ तक कि उस सन्देह को भी जो अपने सर्द हाथों से
जकड़कर जमा देता है हमारे हृदय और डुबो देता है उन्हें,
सभी को, खुशी को भी, होना है लोहे का
तुम्हारी मदद करने के लिए, विजय में, ओ माँ, ओ बहन!

थूका जाये आज के गद्दर के मुँह पर!

नीच को दण्ड मिले आज, इस विशेष
घण्टे के दौरान, उसके सम्पूर्ण कुल को,
कायर वापस लौट जायें
अँधेरे में, जयपत्र जायें पराक्रमी के पास,
एक पराक्रमी प्रशस्त पथ, बर्फ और रक्त के

एक पराक्रमी जहाज़ के पास, जो हिफ़ाज़त करता है दुनिया की

आज के दिन तुम्हें शुभकामनाएँ देता हूँ सोवियत संघ,
विनम्रता के साथ : मैं एक लेखक हूँ और एक कवि।
मेरे पिता रेल मजदूर थे : हम हमेशा ग़रीब रहे।
कल मैं तुम्हारे साथ था, बहुत दूर, भारी बारिशों वाले
अपने छोटे से देश में। वहाँ तुम्हारा नाम
तपकर लाल हो गया, लोगों के दिलों में जलते-जलते
जब तक कि वह मेरे देश के ऊँचे आकाश को छूने नहीं लगा।

आज मैं उन्हें याद करता हूँ, वे सब तुम्हारे साथ हैं!

फ़ैक्टरी-दर-फ़ैक्टरी घर-दर-घर
तुम्हारा नाम उड़ता है लाल चिड़िया की तरह।
तुम्हारे वीर यशस्वी हों और हरेक बूँद
तुम्हारे खून की। यशस्वी हों हृदयों की बह-बह निकलती बाढ़
जो तुम्हारे पवित्र और गौरवपूर्ण आवास की रक्षा करते हैं!

यशस्वी हो वह बहादुरी भरी और कड़ी

रोटी जो तुम्हारा पोषण करती है, जब समय के द्वार खुलते हैं
ताकि जनता और लोहे की तुम्हारी फ़ौज मार्च कर सके, गाते हुए
राख और उजाड़ मैदानों के बीच से, हत्यारों के खिलाफ़,
ताकि रोप सके एक गुलाब चाँद जितना विशाल
जीत की सुन्दर और पवित्र धरती पर!

सजेंगे फिर नये लश्कर! मचेगा रण महाभीषण!

(पेज 11 से आगे)

आज के क्रान्तिकारियों के सामने यह एक अहम कार्यभार है कि मेहनतकश जनता को और खासकर युवा आबादी को महान क्रान्तिकारी इतिहास और उपलब्धियों से परिचित कराया जाये। मेहनतकश जनता के युवा सपूतों को पहले तो यही बताना होगा कि मार्क्सवाद के सिद्धान्त कहते क्या हैं। उन्हें यह बताना होगा कि उनके पूर्वजों ने किस तरह इन सिद्धान्तों के मार्गदर्शन में महान सामाजिक प्रयोगों को अमल में उतारा और विज्ञान को नयी समृद्धि दी। उन्हें समाजवाद के दौर में हुई अभूतपूर्व प्रगति के बारे में बताने की ज़रूरत है जिसे देखकर पूँजीवादी दुनिया को दाँतों तले उँगली दबानी पड़ गयी थी। कुछ ही वर्षों में समाजवाद ने आम जनता को अभावों और अपमान की बेड़ियों से आज़ाद कर जीवन की तमाम बुनियादी ज़रूरतें उपलब्ध करा दी थीं। समाजवाद ने जनता को केवल भौतिक ही नहीं, बल्कि वह सांस्कृतिक और आत्मिक सम्पदा भी प्रदान की जिससे शोषक वर्गों ने उसे वंचित कर रखा था। उन्हें बताना होगा कि जब जनता की सर्जनात्मकता निर्बन्ध हुई तो उसने कैसे चमत्कार कर दिखाये। मानवता के इतिहास में पहली बार स्त्रियाँ चूल्हे-चौखट की गुलामी से आज़ाद हुईं और एक नये समाज के निर्माण के लिए पुरुषों के साथ क्रम से क्रम मिलाकर चलीं। समाजवाद की शानदार और महान उपलब्धियों के ठोस आँकड़े मौजूद हैं, जिन्हें खुद बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों, इतिहासकारों और राजनेताओं ने स्वीकारा है। लेकिन

आज इन सबको झूठ के पर्दे के पीछे धकेल दिया गया है। उन ऐतिहासिक घटनाओं, बलिदानों और उपलब्धियों को भुलाया जा चुका है। इनके प्रभाव में अनेक वामपन्थी बुद्धिजीवी तक बीसवीं सदी को विफलता की सदी कहते हुए मिल जायेंगे। हमें अपने इस गौरवशाली अतीत की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों उपलब्धियों को लोगों के सामने लाना होगा।

इसीलिए आज हम नये सर्वहारा नवजागरण की बात करते हैं। इसका अर्थ अतीत को दोहराना नहीं है, लेकिन अतीत को जाने बिना आगे बढ़ना भी मुश्किल है। आज सर्वहारा वर्ग की हरावल शक्तियों के सामने यह एक अहम कार्यभार है। आज दुनिया में ऐसा कोई देश नहीं है जो सर्वहारा क्रान्ति का आधारक्षेत्र हो, जिसकी ओर दुनिया की जनता दिशा और प्रेरणा के लिए देख सकती हो। आज मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन-स्तालिन-माओ जैसा कोई सर्वमान्य अन्तरराष्ट्रीय नेता नहीं है। क्रान्ति की शक्तियाँ बेहद बिखरी हुईं और कमज़ोर हैं। ऐसे में यह काम बेहद कठिन है। लेकिन इसकी क़तई अनदेखी नहीं की जा सकती। इसीलिए हम पुरजोर ऊँची आवाज़ में नये सर्वहारा नवजागरण का नारा बुलन्द करते हैं। लेकिन जैसाकि हम पहले भी कह चुके हैं, भावी क्रान्तियाँ हूबहू अतीत की क्रान्तियों के नक्शे-क़दम पर नहीं चलतीं। केवल विगत सर्वहारा क्रान्तियों की उपलब्धियों से परिचित होनेमात्र से ही हमारा उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता। हमें अतीत की क्रान्तियों से काफ़ी कुछ लेना

होगा। साथ ही, आज की परिस्थितियों का अध्ययन करके नये नतीजे निकालने होंगे और नयी क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल विकसित करने होंगे। यह प्रक्रिया गहन सामाजिक प्रयोग, उनके सैद्धान्तिक समाहार, वाद-विवाद, विचार-विमर्श और फिर नयी क्रान्तियों की प्रकृति, स्वरूप एवं रास्ते से मुक्तिकामी जनता को परिचित कराने की सुदीर्घ प्रक्रिया होगी। इस पहलू के मद्देनज़र हम नये सर्वहारा प्रबोधन की बात करते हैं। आज पूरी दुनिया के मूलाधार और अधिरचना में आये व्यापक परिवर्तनों का हमें अध्ययन करना होगा। कहने की ज़रूरत नहीं कि अध्ययन की यह प्रक्रिया सामाजिक प्रयोगों और सघन वाद-विवाद के ज़रिये तथा प्रयोगों से निगमित निष्कर्षों के आधार पर आम जनता के बीच व्यापक राजनीतिक प्रचार और फिर नये सामाजिक प्रयोगों की प्रक्रिया के साथ ही चल सकती है। इस पहलू को हम एक नये सर्वहारा प्रबोधन के कार्यभार के रूप में रेखांकित करते हैं। थोड़े में इन दोनों को मिलाकर कहें तो, क्रान्तियों के इतिहास से आवश्यक सबक लेना तथा आज की दुनिया की नयी परिस्थितियों के आधार पर अपने सिद्धान्तों एवं व्यवहार को आगे विस्तार देना। यही नये सर्वहारा नवजागरण और प्रबोधन का ऐतिहासिक सारतत्त्व है। जाहिरा तौर पर, इसका एक पहलू विचारधारा से जुड़ेगा, एक पहलू राजनीतिक अर्थशास्त्र से जुड़ा होगा, एक पहलू कला-साहित्य-संस्कृति की सैद्धान्तिकी से सम्बन्ध रखेगा, एक पहलू समाजवादी संक्रमण की प्रकृति

की समझ से जुड़ा होगा और एक पहलू आज की नयी लेनिनवादी पार्टी की अवधारणा को समृद्धि प्रदान करेगा।

तीसरी दुनिया के जिन देशों में आज नयी समाजवादी क्रान्ति की ज़मीन पक रही है, उनमें भारत प्रातिनिधिक स्थिति में है। लेकिन आज यहाँ कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर लगभग विघटित हो चुका है। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों के भीतर बोल्शेविज्म के उसूल मुख्यतः क्षरित हो चुके हैं। पुराने संशोधनवादी भाकपा, माकपा, भाकपा (माले-लिबेरेशन) तो पहले से ही नंगे हो चुके हैं, पर सबसे घातक संशोधनवादी तो वे हैं जो माओ विचारधारा या माओवाद और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की बातें करते हुए अर्थवाद और ट्रेडयूनियनवाद कर रहे हैं, बोल्शेविज्म के नाम पर मेशेविक पार्टी-ढाँचा चला रहे हैं। एक ओर पुरानी नवजनवादी क्रान्ति की सलीब को ढोते हुए नामधारी मार्क्सवादी रह गये संगठन हैं जो धनी किसानों और कुलकों की माँगों पर आन्दोलन करते हुए वस्तुतः नरोदवादी बन चुके हैं। दूसरी ओर “वामपन्थी” जुनून में काम करने वाले संगठन हैं जो कार्यक्रम के धरातल पर नरोदवादी आचरण करते हुए विचारधारा के स्तर पर घनघोर “वामपन्थी” दुस्साहसवाद के शिकार हैं। ये मार्क्सवादी विज्ञान से कोसों दूर हैं और अपनी तमाम सदृच्छाओं के बावजूद अपनी जुनूनी हरकतों से मजदूर वर्ग के लक्ष्य को नुकसान ही पहुँचा रहे हैं। यही है आज विघटित हो चुके कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर की तस्वीर। शिविर का जो

विघटन छत्तीस वर्ष पहले शुरू हुआ था, एकता की तमाम गुहारों और कोशिशों के बावजूद आज लगभग पूरा हो चुका है। मूल बात यह है कि अधिकांश कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों की संरचना ही बोल्शेविक नहीं रह गयी है तो फिर इन्हें मिलाने से कोई अखिल भारतीय क्रान्तिकारी पार्टी भला कैसे बन सकती है।

इसीलिए आज नयी बोल्शेविक भर्ती और ट्रेनिंग का काम बेहद अहम बन गया है। पार्टी निर्माण और पार्टी गठन के दो द्रन्दात्मक पहलुओं में आज निर्माण का पहलू प्रधान है। नये बोल्शेविक तत्त्वों की भर्ती और तैयारी किये बिना अखिल भारतीय क्रान्तिकारी पार्टी नहीं खड़ी की जा सकती। इस पहलू को एक नये सर्वहारा नवजागरण और नये सर्वहारा प्रबोधन के पहलू से अलग करके नहीं देखा जा सकता। जब हम नये बोल्शेविक तत्त्वों की भर्ती की बात करते हैं तो पुरानी क़तराओं की अनदेखी की बात नहीं होती है। जब आम राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई पर बल देने की बात होती है तो उसका यह मतलब नहीं कि रोज़मर्रा के राजनीतिक संघर्षों और मेहनतकश अवाम के बीच की जाने वाली जनकार्रवाइयों को तिलांजलि दे दी जाये।

आज अक्टूबर क्रान्ति की शिक्षाएँ हमें याद दिलाती हैं कि लेनिन के समय की तरह से आज भी हमें वाम और दक्षिण अवसरवाद के प्रेतों से जूझते हुए, अडिग होकर अपने रास्ते पर आगे बढ़ना होगा।

वैश्विक भूख सूचकांक में 100वें स्थान पर भारत

70 साल की आज़ादी का हासिल : भूख और कुपोषण के क्षेत्र में महाशक्ति

- मुकेश असीम

भारत में दो वर्ष तक की उम्र के 10% से भी कम बच्चों को पर्याप्त मात्रा में पोषक भोजन उपलब्ध होता है। माँ का दूध पीते बच्चों को जब साथ में दूसरे भोजन देने की उम्र होती है, उस वक़्त सिर्फ़ 42% बच्चों को ही ठोस भोजन उपलब्ध हो पाता है। 5 साल से कम उम्र के 35% बच्चे सामान्य से कम वज़न और 38% बच्चे सामान्य से कम क्रद के हैं। 21% बच्चे तो अपने क्रद के हिसाब से भी कम वज़न वाले अर्थात् पूरी तरह कुपोषित हैं। कुपोषित बच्चों की संख्या 2005-06 के मुक़ाबले अब 1% बढ़ गयी है। ये सब निष्कर्ष थे 2015-16 के राष्ट्रीय पारिवारिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण के। दुनिया में मात्र तीन ही और देश - दक्षिणी सूडान, जिबूती और श्रीलंका - ऐसे हैं, जहाँ 20% से अधिक बच्चे पूरी तरह कुपोषित हैं।

इस स्थिति में यह क़तई आश्चर्य की बात नहीं कि जब इंटरनेशनल फ़ूड पॉलिसी रिसर्च इंस्टिट्यूट एवं अन्य कुछ संस्थाओं ने 2017 में दुनिया के 119 देशों में आवश्यक पोषक भोजन की उपलब्धता के आधार पर एक वैश्विक भूख सूचकांक तैयार किया, तो इन 119 देशों में भारत का स्थान 100 वाँ पाया गया। 2016 में यह स्थान 97 वाँ था। अर्थात् एक साल में स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ, बल्कि यह और बदतर ही हुई है। 100वें स्थान पर भारत के साथ ही हैं र्वाण्डा और जिबूती। इस भूख सूचकांक में भारत का स्कोर है 31.4% जिसका अर्थ होता है गम्भीर श्रेणी में भी बहुत ख़राब स्तर। भारत के ही पड़ोसी देशों में से नेपाल, बांग्लादेश, श्रीलंका सभी का स्थान भारत से बेहतर है, सिर्फ़ पाकिस्तान और अफ़ग़ानिस्तान बदतर हालत में हैं। भारत की बराबरी के जिन ब्रिक्स देशों की बड़ी चर्चा होती है, उनमें ब्राज़ील, रूस, चीन, दक्षिण अफ़्रीका सभी भारत से काफ़ी ज़्यादा बेहतर स्थिति में हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि पिछले 30 सालों से नवउदारवादी नीतियों द्वारा भारत को जिस आर्थिक महाशक्ति बनाने का दावा किया जा रहा था, वह तो क्या बनती, उसके बजाय देश अब भूख और कुपोषण के क्षेत्र में महाशक्ति ज़रूर बन गया है।

वैसे यह कोई बिल्कुल नयी ख़बर भी नहीं है। संयुक्त राष्ट्र के खाद्य व कृषि संगठन (एफ़.ए.ओ.) की ग्लोबल हंगर रिपोर्ट 2015 के अनुसार भारत में कुल 19.46 करोड़ लोग कुपोषण के शिकार थे, जो उससे पिछले 5 साल में 2.6% बढ़े थे अर्थात् 5 साल पहले 18.99 करोड़ ही थे। ऐसे समझ सकते हैं कि पाकिस्तान की कुल जनसंख्या से भी 1.20 करोड़ ज़्यादा लोग भारत में कुपोषित हैं। यहाँ कुपोषण का मतलब सिर्फ़ कुछ दिन या समय भोजन की कमी झेलने से नहीं है, बल्कि उनसे है जिन्हें लगातार एक साल और उससे ज़्यादा अपनी दैनिक शारीरिक पोषण की ज़रूरत से कम भोजन मिलता है। इस रिपोर्ट के अनुसार भारत में ग़रीबों के भोजन में मात्र किसी तरह जीवित रह सकने वाले पदार्थ ही शामिल हैं, क्योंकि खाद्य पदार्थों की बढ़ती महँगाई से ग़रीब लोग पोषक भोजन ख़रीदने में असमर्थ हो चुके हैं।

यह स्थिति उस समय है जब पिछले 40 वर्ष से लगातार देश में खाद्यान्नों की उपज की कोई कमी नहीं है। पिछले कई सालों से तो सरकार हर वर्ष रिकॉर्ड उत्पादन की घोषणा करती आ रही है। खाद्यान्न का इतना स्टॉक है कि उसके भण्डारण की समुचित व्यवस्था तक नहीं हो पा रही है और लाखों टन खाद्यान्न उचित भण्डारण के अभाव में सड़-गल जाता है। असल में तो मुनाफ़े के लिए चलने वाली पूँजीवादी व्यवस्था में खाद्यान्न के पर्याप्त मात्रा में

उपलब्ध होने या न होने का इससे कोई सम्बन्ध ही नहीं कि वह समाज में सबको उपभोग के लिए भी उपलब्ध होगा। पूँजीवादी व्यवस्था में अन्न, दूध, सब्जी, फल, अण्डे, मांस, आदि सभी पदार्थ किसे मिलेंगे और किसे नहीं, यह आवश्यकता और उपलब्ध मात्रा से निर्धारित नहीं होता, बल्कि इससे तय होता है कि किसी व्यक्ति की इन वस्तुओं को ख़रीदने की क्षमता अर्थात् आमदनी है या नहीं। ये खाद्य पदार्थ अगर पर्याप्त मात्रा यहाँ तक कि प्रचुरता

के मुक़ाबले औसतन 80 मिली दूध ही प्रतिदिन मिल पा रहा है। सर्वे यह भी बताता है कि जहाँ 1979 में औसतन दैनिक ज़रूरत के लायक प्रोटीन, ऊर्जा, कैल्शियम तथा आइरन उपलब्ध था, वहीं 2012 आते-आते सिर्फ़ कैल्शियम ही ज़रूरी मात्रा में मिल पा रहा है, जबकि प्रोटीन दैनिक ज़रूरत का 85%, ऊर्जा 75% तथा आइरन मात्र 50% ही उपलब्ध है। सिर्फ़ विटामिन ए ही एक ऐसा पोषक तत्व है, जिसकी मात्रा 1979 के 40% से बढ़कर

लोकतान्त्रिक हुकूमत बिना आधार लिंक हुए ऐसे लोगों को फ़र्जी, धोखेबाज़, कामचोर, ख़ैरात चाहने वाले मानती है और इनका राशन पानी, पेंशन बन्द कर देती है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली की दरों पर राशन बन्द होने के कारण ग़रीब मज़दूरों की ऐसी मौतों की ख़बरें हर प्रदेश से आ रही हैं, पर इनकी असली तादाद तो ख़बरों से कई कई गुना ज़्यादा है। पर जिनकी ख़बर आती भी है उन्हें भी सरकारी अमला प्राकृतिक या बीमारी वजह बताकर भूख से होने वाली मौत की बात को झूठ ठहराने में जुट जाता है, जैसे सन्तोषी की मृत्यु की वजह मलेरिया घोषित कर दिया गया है। वैसे तो बीमारियों से होने वाली अधिकांश मौतों की असली वजह भी भूख और कुपोषण ही है, क्योंकि भूख से कमज़ोर हुआ शरीर ही बीमारियों का शिकार ज़्यादा होता है। अनुमानों के अनुसार हर साल टीबी के 28 लाख नये मरीजों और 5 लाख मौतों में भी आधे से अधिक का असली कारण कुपोषण है और इनका इलाज सिर्फ़ दवाई से मुमकिन नहीं बल्कि साथ में पोषक भोजन से ही हो सकता है।

भूख, कुपोषण के कारणों को समझने के लिए वर्ल्ड फ़ूड प्रोग्राम नामक संस्था द्वारा किये गये एक अध्ययन के अनुसार 2016 में विश्व में 80 करोड़ लोग गम्भीर रूप से भूख की स्थिति का शिकार हुए जबकि भोजन की उपलब्धता में कोई कमी नहीं थी। बल्कि 200 करोड़ लोगों के खाने लायक भोज्य पदार्थ बरबाद किये गये। फिर भी भूख की व्यापकता का कारण पाया गया ग़रीब लोगों के लिए भोजन की तुलनात्मक रूप से ऊँची, उनकी पहुँच से बाहर क्रीमों। इसके लिए इस अध्ययन में दुनिया के कई देशों की क्रय क्षमता, प्रति व्यक्ति आय और वहाँ भोजन की बाज़ार क्रीमों को देशों के जीडीपी स्तर के मुताबिक अमरीकी डॉलर में परिवर्तित कर तुलना की गयी तो पाया गया कि रोज़मर्रा के खाने के मूल्य ग़रीब देशों में तुलनात्मक रूप से बहुत ऊँचे और उनके ग़रीब लोगों की आय के मुक़ाबले कहीं बहुत ज़्यादा हैं। उदाहरण के तौर पर इस गणना के आधार पर दाल-सब्जी के साथ चावल, कसावा, रोटी के सामान्य भोजन की एक थाली की बाज़ार क्रीमत न्यूयॉर्क में 1.20 डॉलर पायी गयी जो वहाँ के निवासियों की औसत दैनिक आय के 1% से भी कम है लेकिन वही थाली ग्वाटेमाला में 8, नेपाल में 27 और हैती में 72 डॉलर से अधिक पड़ेगी। सबसे ज़्यादा ख़राब स्थिति दक्षिणी सूडान की थी, जहाँ यह तुलनात्मक मूल्य 321 डॉलर बना जो वहाँ के निवासियों की औसत दैनिक आमदनी का डेढ़ गुना है। कोई आश्चर्य नहीं कि वैश्विक भूख सूचकांक में सबसे ख़राब पायदान पर यही दक्षिणी सूडान है।

वैश्विक भूख सूचकांक की इस रिपोर्ट से यह भी पता चलता है कि दुनिया भर में बढ़े कृषि उत्पादन और अनाज, आदि की पर्याप्त उपलब्धता के बावजूद भारत के साथ-साथ क़रीब 62 और भी देश हैं, जिनमें व्यापक भूख की स्थिति को गम्भीर या ख़तरनाक स्तर की माना गया है। इसका अर्थ है कि पूरे विश्व के पैमाने पर ही आर्थिक संकटग्रस्त पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और निरन्तर बढ़ती असमानता मेहनतकश जनता के एक बड़े हिस्से के जीवन में भयंकर तबाही और भुखमरी की स्थिति पैदा कर चुकी है, जिसका सर्वाधिक शिकार सबसे असहाय ग़रीब, वृद्ध, बीमार, बच्चे, महिलाएँ, आदि हो रहे हैं। इस तरह विश्व पूँजीवादी व्यवस्था आज मानवता के लिए पूरी तरह सर्वनाश की वजह बन चुकी है।



प्रसिद्ध कार्टूनिस्ट राजेंद्र धोड़पकर का कार्टून, सत्याग्रह डॉट कॉम से साभार

से भी उपलब्ध हों तब भी अगर किसी की आमदनी कम है तो ये चाहें सड़ जायें, जला या फेंक देने पड़ें इन्हें उन ग़रीब लोगों को नहीं दिया जाता जो इनकी कमी से भुखमरी का शिकार हों, क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था मानवीय भावनाओं और ज़रूरतों से नहीं बल्कि मूल्य और मुनाफ़े के बाज़ार नियमों से चलती है। भण्डार में पड़े अनबिके अनाज को सस्ते दामों पर ग़रीब लोगों को उपलब्ध कराने से बाज़ार में दामों की गिरावट और अनाज तथा इसके उत्पादों के व्यापारियों के मुनाफ़े के कम होने का जोखिम हो जाता है, जिसे इस व्यवस्था में बर्दाश्त नहीं किया जा सकता।

यही वजह है कि चाहे किसी भी पार्टी की सरकार रही हो, रिकॉर्ड कृषि उत्पादन के बावजूद देश के आम लोगों को भोजन की उपलब्धता लगातार कम होती गयी है। अभी ग्रामीण इलाकों के 80% और शहरी इलाकों के 70% निवासियों को सब्जी, फल, दूध, मांस-मछली, आदि पोषक पदार्थ की पर्याप्त मात्रा मिलना तो बहुत दूर की बात है, ऊर्जा की न्यूनतम दैनिक आवश्यकता अर्थात् 2400 कैलोरी भी प्राप्त नहीं होती। हालत यह है कि भारत में किसी भी बीमारी के मुक़ाबले कुपोषण से अधिक लोग मरते हैं। नेशनल न्यूट्रिशन मॉनिटरिंग ब्यूरो, जिसे 2015 में बन्द ही कर दिया गया, के सर्वेक्षणों के अनुसार पिछले 40 वर्षों में ग्रामीण-शहरी सभी क्षेत्रों में अधिकांश जनता को मिलने वाले पोषक पदार्थों की मात्रा में लगातार कमी आयी है। यही देश के 'आर्थिक महाशक्ति' और 'सबसे तेज़ वृद्धि करने वाली अर्थव्यवस्था' बनने के पीछे की असली कड़वी सच्चाई है।

2012 के न्यूट्रिशन ब्यूरो के ग्रामीण भारत के आखिरी सर्वे के अनुसार, 1979 के मुक़ाबले औसतन हर ग्रामीण को 550 कैलोरी ऊर्जा, 13 ग्राम प्रोटीन, 5 मिग्रा आइरन, 250 मिग्रा कैल्शियम और 500 मिग्रा विटामिन ए प्रतिदिन कम मिल रहा है। इसी तरह 3 वर्ष से कम की उम्र के बच्चों को 300 मिलीलीटर प्रतिदिन की आवश्यकता

1997 में 55% हुई थी, लेकिन वह भी 2012 में घटकर दैनिक ज़रूरत का 50% ही रह गयी। इसी का नतीजा है कि सर्वे के अनुसार 35% ग्रामीण स्त्री-पुरुष कुपोषित हैं और 42% बच्चे मानक स्तर से कम वज़न वाले हैं। और यह तो पूरी आबादी का औसत आँकड़ा है, जनसंख्या के ग़रीब हिस्से में तो हालात और भी बेहद ख़राब हैं। आजीविका ब्यूरो नाम के संगठन द्वारा दक्षिण राजस्थान के गाँवों में किये गये एक सर्वे के अनुसार आधी माँओं को दाल नसीब नहीं हुई थी तथा एक तिहाई को सब्जी नहीं मिली थी। फल, अण्डे या मांस तो ख़ैर किसी को भी मिलने का सवाल ही नहीं था। नतीजा, आधी माँएँ और उनके बच्चे कुपोषित थे।

इन हालात में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि पिछले दिनों झारखण्ड के सिमडेगा से 11 साल की बच्ची सन्तोषी कुमारी के भात माँगते-माँगते भूख से दम तोड़ देने की अत्यन्त दुःखद ख़बर आयी, क्योंकि राशन कार्ड के लिए आधार को ज़रूरी बना देने का फ़ैसला मोदी सरकार ने दे दिया था। सन्तोषी का तो आधार भी बना हुआ था, पर बायोमेट्रिक सत्यापन की दिक्कत से वह राशन कार्ड से नहीं जुड़ पाया था और उसके परिवार का राशन कार्ड रद्द कर उन्हें पिछले 8 महीने से सार्वजनिक वितरण प्रणाली की दर पर राशन देना बन्द कर दिया गया था। बाज़ार में राशन की कमी नहीं, लेकिन उन क्रीमों पर उसका परिवार ख़रीद पाने में असमर्थ था। सिर्फ़ झारखण्ड में ही ऐसे 11 लाख से अधिक राशन कार्ड आधार से न जुड़ पाने के कारण फ़र्जी बताकर रद्द कर दिये गये हैं। अन्य राज्यों में भी स्थिति यही है - सबसे ग़रीब, वृद्ध, बीमार, असहाय लोगों के राशन कार्ड रद्द, पेंशन बन्द क्योंकि इनके आधार नहीं बने हैं, बने हैं तो ये बायोमेट्रिक देने जाने में असमर्थ हैं, चले भी जायें तो श्रम, बुढ़ापे, बीमारी की वजह से उँगलियों के निशान बदल गये हैं, आधार डाटा से मेल नहीं खाते या उस दिन बिजली, मॉबाइल सिग्नल, इंटरनेट नहीं होता। और हमारी 'कल्याणकारी